आचार्य भिक्षु और महात्मा गांधी

लेखक ·

मुनि श्री नगराजजी

प्रकाशक .

आ द र्श - सा हि त्य - सं घ

सरदारशहर, (राजस्थान)

प्रकाशक :
आदर्श-साहित्य-संघ
सरदारशहर (राजस्थान)

प्रथम संस्करण २५००
मूल्य १।)

मुद्रक :
मदनकुमार मेहता
रेफिल आर्ट प्रेस
(आदर्श-साहित्य-सघ द्वारा सचालित)
३१, बड़तल्ला स्ट्रीट, कलकत्ता।

दो शब्द

यह सर्वसम्मत-सा तत्त्व है कि इस युगमे महात्मा गाधीने अहिंसाको पुन अनुप्राणित किया, जबकि लोग भारतीय परतन्त्रताका कारण भी अहिंसाको मान बैठे थे। उन्होने यह सिद्ध कर बताया—अहिंसा परतन्त्रता देनेवाली नहीं अपितु स्वतन्त्रता देनेवाली है। भारतवर्षमे ही नहीं किन्तु अन्य भूखंडोमे भी जन-जनमे अहिंसा के प्रति आकर्षण बढा और अहिंसा अणु-अस्त्रसे भी बढकर एक अमोघ अस्त्र मानी गई। अहिंसा और गाधीका एक अमिट सम्बन्ध हो गया। अहिंसाका कोई भी विवेचक तद्विषयक गाधी-दृष्टिका उल्लेख किये बिना अपने विवेचनको पूर्ण नहीं मानता।

अधिकाश विवेचक गाधी-अहिंसाको उसके राजनैतिक पहलू तक बता कर ही अपने विवेचनकी परिसमाप्ति मान लेते है। उन्हे यह पता नहीं कि व्यावहारिक जीवनके सम्बन्धमे महात्मा गाधीने अहिंसाका किसप्रकार मन्थन किया था। प्राचीन ऋषि-महर्षियोने व्यावहारिक जीवनके विषयमे हिंसा और अहिंसाकी जो विवेचना की, जीवनके छोटेसे छोटे प्रसंगमे भी धर्म, अधर्म,

प्रकाशक :

आदर्श-साहित्य-संघ

सरदारशहर (राजस्थान)

प्रथम संस्करण २५००

मूल्य १।)

मुद्रक :

मदनकुमार मेहता

रेफिल आर्ट प्रेस

(आदर्श-साहित्य-संघ द्वारा संचालित)

२१, बड़तल्ला स्ट्रीट, कलकत्ता ।

दो शब्द

यह सर्वसम्मत-सा तत्त्व है कि इस युगमे महात्मा गाधीने अहिंसाको पुन अनुप्राणित किया, जबकि लोग भारतीय परतन्त्रताका कारण भी अहिंसाको मान बैठे थे। उन्होने यह सिद्ध कर बताया—अहिंसा परतन्त्रता देनेवाली नहीं अपितु स्वतन्त्रता देनेवाली है। भारतवर्षमे ही नहीं किन्तु अन्य भूखंडोंमे भी जन-जनमे अहिंसा के प्रति आकर्षण बढा और अहिंसा अणु-अस्त्रसे भी बढ़कर एक अमोघ अस्त्र मानी गई। अहिंसा और गाधीका एक अमिट सम्बन्ध हो गया। अहिंसाका कोई भी विवेचक तद्‌विषयक गाधी-दृष्टिका उल्लेख किये बिना अपने विवेचनको पूर्ण नहीं मानता।

अधिकाश विवेचक गाधी-अहिंसाको उसके राजनैतिक पहलू तक बता कर ही अपने विवेचनकी परिसमाप्ति मान लेते हैं। उन्हें यह पता नही कि व्यावहारिक जीवनके सम्बन्धमे महात्मा गाधीने अहिंसाका किसप्रकार मन्थन किया था। प्राचीन ऋषि-महर्षियोंने व्यावहारिक जीवनके विषयमे हिंसा और अहिंसाकी जो विवेचना की, जीवनके छोटेसे छोटे प्रसंगमे भी धर्म, अधर्म,

पुण्य, पापका निपटारा किया , उसी प्रकार गाधीजीने भी इस विपयमें जी तोडकर कलम चलाई है, जैसाकि आप प्रस्तुत पुस्तक मे किये जानेवाले आलोचनात्मक विवेचनसे स्वयं जान सकेंगे।

आचार्य भिक्षु

आचार्य भिक्षु भी अपने युगके एक महान् क्रान्तिकारी अहिंसक हुए है। व्यावहारिक जीवनमे हिंसा और अहिंसाको लेकर धर्म, अधर्म, पुण्य, पापकी अनूठी छानबीन उन्होने अपने उर्वर मस्तिष्कसे की थी। महात्मा गांधीकी तरह वे भी अपने अहिंसात्मक आन्दोलनमे सफल थे, यह माना जा सकता है। उनके महत्त्वपूर्ण कार्य-कलापोंसे अवगत होना तो स्वतन्त्र अध्ययनकी अपेक्षा रखता है। यहां तो उनके जीवनकी एक झांकी सी दी जाती है।

आचार्य भिक्षुका जन्म जोधपुर राज्यान्तर्गत कन्टालिया ग्राममे सं० १७८३ मे हुआ था। २५ वर्षकी उम्र तक एक धर्म-गवेषकके रूपमे गृहस्थवासमे रहे। विभिन्न सम्प्रदायोंका अवलोकन किया। सं० १८०८ मे एक सम्प्रदाय-विशेषमे जैनी दीक्षा ग्रहण की। आठ वर्षके लगभग उस संस्थामे रहे, शास्त्र-अध्ययन किया और अपने आचार-व्यवहारमे सिद्धातको वास्तविकताकी कसौटी पर कसा। उन्हें यह भान हुआ—जिस अहिंसाकी साधनाके लिए हम सब कुछ त्यागकर निकले है, यथार्थमे उस अहिंसाके समीप भी नहीं पहुंचे है। जीवन-व्यवहारमे अहिंसा

के नाम पर हिंसाको प्रश्रय देते है और धर्मके नाम पर अधर्मको। यह जीवनके साथ एक खिलवाड ही नहीं किन्तु पूरा - पूरा धोखा है।

इन्हीं क्रान्तिकारी विचारोंको लेकर उन्होंने अपना कदम आगे बढाया। उन्होंने प्राणहीण ढर्रेसे चलनेवाले सम्प्रदायका मोह छोडा और सजीव साधुसंघकी स्थापना की, जो 'तेरापथ' के रूपमे संसारके सामने है। उन्हें जीवनभर विरोधियोके साथ लोहा लेना पडा और विरोधियों द्वारा प्रदत्त अगणित कष्ट सहन करने पडे। उन विरोधोंका, उन कष्टोका यदि विस्तारपूक वर्णन किया जाये, तो एक रोमाञ्चकारी ग्रन्थ प्रस्तुत हो सकता है।

वे अहिंसाके मार्ग पर डटे रहे और विद्वेषका अहिंसात्मक प्रतिकार करते रहे। जीवन भर धर्म, अधर्म, पुण्य, पापके जटिलतम प्रश्न अपनी तटस्थ बुद्धिसे सुलझाते रहे। अहिंसाके विषय मे उन्होने अपने तर्कपूर्ण नवीन विचार जनताको दिये, जो मान्यताके चालू ढर्रेमे क्रान्तिकारी परिवर्तन लाते थे। हिंसा अहिंसा व धर्म अधर्मको लेकर विवेचनापूर्ण बहुतसे ग्रन्थ लिखे, जिनकी सम्मिलित श्लोक संख्या ३८००० है।

वे एक कुशल व्यवस्थापक भी थे। तेरापन्थ समाजका सुन्दर संघटन उनके चातुर्यकी देन है। - तेरापन्थके वर्तमान अधिनेता आचार्य श्री तुलसी हैं, जो आजके जन-जीवनमे नैतिकताके नये प्राण फूक रहे हैं। इन ख्यातनामा आचार्यवरके विपयमे अधिक लिखनेकी आवश्यकता प्रतीत नहीं होती।

आचार्य भिक्षुके आप नवम उत्तराधिकारी है।

प्रस्तुत पुस्तक न तो इतिहास ही है और न जीवन-चरित्र। यह तो आचार्य भिक्षु और महात्मा गाधीके तुलनापरक विचारो का एक आलोचनात्मक सकलन है। गाधी-साहित्य पढनेका मुझे बचपनसे ही प्रेम रहा। लगभग १२ या १३ वर्षकी उम्रमे गृहस्थ-जीवनमें मैने महात्मा गाधीकी आत्मकथा पढी थी। यह इस विषयमे पहली पुस्तक थी। इसका मेरे जीवन पर गहरा प्रभाव पडा था, जो मुझे आज भी याद है।

आजतक भी अध्ययनकी वही धारा चालू थी। विगत ५ या ६ वर्षोंसे आचार्य भिक्षु और महात्मा गाधीके विविध साहित्यका तुलनात्मक अध्ययन प्रारम्भ किया। यह तो मै नही कह सकता—इस विषयमे पर्याप्त अध्ययन कर पाया हू, किन्तु यह अवश्य कह सकता हू—इस अवधिमे जो भी साहित्य मेरे सामने आया, उसमेसे एक भी पुस्तक यों ही छोडदी हो, ऐसा मुझे प्रतीत नहीं होता।

इस विषयका मेरा अध्ययन और तज्जन्य धारणाएं नितान्त स्वतन्त्र है। मै नहीं कह सकता—अन्य विचारक इस विषयमे मेरा कहा तक साथ देगे। आलोचकोंसे मैं यह अवश्य चाहूगा कि वे अपनी चिरन्तन बद्धमूल धारणाओंके आधारसे किसी निर्णय पर न पहुंचे।

साहित्य एक ऐसा उद्यान है, जिसमे पाठकोंके जितने दृष्टि-कोण होते है उतने ही द्वार होते है। भिन्न-भिन्न द्वारोंसे प्रवेश

करनेवाले व्यक्ति भिन्न भिन्न प्रकारसे पुष्पोंको चुनकर ला सकते हैं। अस्तु आलोचकगण उदार तथा तटस्थ मनीषासे काम लेंगे।

आजसे लगभग तीन वर्ष पूर्व मैंने यह पुस्तक लिखी थी। इस बीचमे मुझे और भी तुलनात्मक सामग्री मिलती रही। अब जब कि इसके पुनरवलोकनका समय आया, बहुत कुछ आवश्यक था, कुछ नये परिच्छेद और लिखे जाते और कुछ पूर्व उपलब्ध और पश्चात् उपलब्ध सामग्रीको मिलाकर दुबारा लिखे जाते, किन्तु कुछ कारणोसे ऐसा न हो सका। अत बछडेकी घटनाके विषयमे जो विशेष संस्मरण प्राप्त हुए, उन्हें लेकर 'बछडेका प्रसंग' शीषक लेखका एक भाग और बढा दिया गया है और कुछ अन्य सामग्रीका उपयोग दो परिशिष्टोंके रूपमे कर दिया गया है।

बहुत पहलेसे मेरी भावना थी—अहिंसाके कुछ प्रसंगों पर स्वय महात्माजीसे ही विचार-विनिमय कर उनकी भावना जानू। एक बार (१९४७ मे) देहलीमे ऐसा प्रसंग भी आ गया, किन्तु कुछ कारणोंसे वह सम्पर्क केवल परिचय तक ही सीमित रहा। अत साहित्यके आधारसे ही मैंने गाधी-अहिंसाको जो कुछ समझा। गाधी-अहिंसाके विपयमे मैं अपने आपको उतना ही अधिकारी समझता हू जितना कि एक गाधीवादी विचारक अपने तटस्थ अध्ययन और अनुशीलन के आधारपर अपने को 'भिक्षु-अहिंसा का।

प्राचीन कालमे दो विचारधाराओंको लेकर खण्डन-मण्डनात्मक पद्धतिसे ग्रन्थ लिखे जाते थे। किन्तु आजकी मानस-स्थिति

सर्वथा इसके विपरीत है। युगने मनुष्यको समन्वयकी दृष्टि दी है। आजका जन-मानस प्रत्येक वस्तुमे समन्वयका तत्त्व ही खोजना चाहता है। प्रस्तुत आयास तथाप्रकारकी बुद्धिका ही परिणाम है। जनताने इससे कुछ भी लाभ उठाया तो मै अपने श्रमको सार्थक मानूगा।

लाडनू (राजस्थान)
ता० १५-४-५२

मुनि नगराज

आचार्य भिक्षु और महात्मा गांधी के प्रकाशन में सरदारशहर निवासी श्रीमान् हनुमानमलजी इन्द्रचन्दजी चोरडिया ने अपने स्वर्गीय पूज्य पिता श्री भीकनचन्दजी चोरडिया की पुण्य-स्मृतिमे नैतिक सहयोगके साथ आर्थिक योग देकर अपनी सास्कृतिक व साहित्यिक सुरुचिका परिचय दिया है जो सबके लिए अनुकरणीय है। हम आदर्श-साहित्य-संघ की ओरसे सादर आभार प्रकट करते हैं।

—शुभकरण दशानी

प्रकाशन मन्त्री

विषयानुक्रम

आचार्य भिक्षु और महात्मा गांधी

आवश्यक हिंसा

"हिंसा तीनो कालमें हिंसा ही मानी जायगी।"

—महात्मा गांधी

"ग्रोर वस्तुमें भेल हुवै, पण हिंसामें नही दया रो भेल।
पूरवा नै पश्चिम रो मारग, किणविध खावै मेल॥"

—आचार्य भिक्षु

हिंसा पाप है, यह एक सर्वसम्मत तथ्य है, किन्तु आवश्यकता और अनिवार्यताके विशेषणयुग्मसे जव हिंसाका नाता जुड जाता है तो वही स्वयं विवाद-केन्द्र वन जाती है। 'अहिंसा परमो धर्म' व 'मैत्री मे सर्वभूतेपु' का सार्वभौम सिद्धान्त खींचातानकी उलझनमे पड जाता है। परिणामत हिंसा भी धर्मका वाना पहनकर मानव-हृदय पर अधिकार पा लेती है। आज

तक अनेकों विचारकोंने अहिंसाका मंथन किया। अहिंसाकी सार्वभौम सत्ताका पाठ संसारको बताया, किन्तु मानव-जीवन की आवश्यकताओंका भूत ज्योंही उठकर सामने आया, वे एका-एक अहिंसाका गला घोंटने पर उतारू हो गये।

आचार्य भिक्षु और महात्मा गाधीने भी अहिंसाका जी तोड मन्थन किया। उनका आवश्यक हिंसा विषयक दृष्टिकोण तो विचार-जगत्मे अपूर्वसा है। वह सर्वसाधारण की बद्धमूल धारणाके बहुत परे और वास्तविकताके बहुत समीप है। उक्त दो विचारकोंका सामञ्जस्यपूर्ण निर्णय भी पाठकोंके हृदयमे एक आश्चर्य और जिज्ञासा उत्पन्न करनेवाला सा है।

आचार्य भिक्षु अहिंसाका अन्तस्पर्शी विवेचन करते हुए लिखते है :—

अथ अनर्थ हिंसा कीधा, अहित रो कारण तास।
धर्म रै कारण हिंसा कीधा, बोध-बीज रो नाश॥"

भावार्थ—आवश्यक या अनावश्यक हिंसा पाप है। हिंसा करके भी यदि उसमे धर्म माना जाता है तो उससे तो उसका बोध-बीज ही नष्ट हो जाता है अर्थात् उसकी सम्यग्-दृष्टि ही नष्ट हो जाती है।

आचार्य भिक्षुने बताया—अहिंसाका सम्बन्ध मात्र मानव-समाजसे ही नहीं है, वह पशु, पक्षी व वनस्पति आदि स्थावर प्राणियोंको भी अभय देती है। आवश्यक और अनावश्यककी मर्यादा मानव-कल्पित है। उसमे मानव-समाजका ही ऐहिक

हित अन्तर्निहित है। प्राणी-जगत्मे वह मानवका स्वार्थवाद ही तो है।

उन्होने बताया—स्थावर और जंगम स्थूल और सूक्ष्म किसी भी प्राणीकी मन, वचन व कायासे हिंसा न करना अहिंसा[1] है। प्रत्येक प्राणी जीना चाहता है, जीनेका अधिकारी है। कोई भी व्यक्ति अपनी सुख-सुविधाके लिए किसी भी प्राणीका किसी भी प्रयोजनसे प्राण-हरण करता है, वह उसके प्रति अन्याय करता है। अत. वह हिंसा हिंसा ही है।

उन्होंने बताया – कुछ लोग कहते है, हम हिंसा करते हैं, हम यह मानते हैं कि वह पाप है किन्तु बिना हिंसाके पुण्य भी नहीं हो सकता। हर क्रियामे पुण्य और पाप मिश्रित ही होते है। यह मिथ्या विश्वास है, अज्ञान है। वस्तुत·—

हिंसा री करणी मे दया नही छै,
दया री करणी मे हिंसा नाह।
दया नै हिंसा री करणी जुई छै,
ज्यू तावडो नै छाह।"

(अनुकम्पा नवम गीति गाथा ७०)

अर्थात्—हिंसाकी क्रियामे दया नहीं है और दयाकी क्रियामे हिंसा नहीं है। दया और हिंसाकी क्रिया दोनो इसी तरह पृथक् है, जिस तरह धूप और छाया।

---

१ अनुकम्पा गाति ९ दोहा २

उन्होंने बताया—कुछ लोग कहते है, हम एकेन्द्रिय प्राणियों को मारकर पंचेन्द्रिय प्राणियोकी रक्षा करते है। किन्तु उन्हें समझना चाहिए—

"जीवा नै मार जीवा नै पोखं,
ते तो मारग ससारको जाणो।
तिण माहो साधु धर्म परूपं,
ते तो पूरा मूढ अयाणो॥"

(अनुकम्पा नवम गीति गाथा २५)

अर्थात् जो एक प्रकारके जीवोंका वधकर दूसरे प्रकारके जीवोंका पोषण करते है, वह संसारका व्यवहार है। वह हिंसा आवश्यक व अनिवार्य हो सकती है किन्तु अहिसा व धम नहीं।

आचार्य भिक्षुके सामने ये आये दिनके प्रश्न थे—मनुष्यके खाने-पीने, उठने-बैठने, चलने फिरनेमे हर क्षण हिंसा होती रहती है, यदि वह भी पाप है तो मनुष्यका जीना भी कैसे सम्भव है? साप, बिच्छू, सिंह आदि प्राणियोंका वध पाप कैसे? जब कि वे स्वयं हिंसक है। कुआ खोदने, तालाब बनवाने व अन्य लोकोपयोगी कार्योंमे हिंसा तो अवश्यंभावी है ही किन्तु समाज-हितके धर्मको विचारते हुए उसे अहिंसाकी कोटिमे क्यो नहीं मान लिया जाता? आदि।

हिंसा व अहिंसाकी भेद-रेखा आचार्य भिक्षुके विचारोमे अत्यन्त स्पष्ट थी। उन्होने बताया—यह नितान्त भूल है कि मनुष्य जो कुछ करता है या उसे करना पडता है, वह उस पर

अहिंसा व धर्मकी छाप लगाता रहे। यह नियम किस तर्कके आधार पर ठहर सकता है कि आवश्यक हिंसा धर्म व अहिंसा ही है। इस सिद्धान्तका निर्माण ही मानव-हृदयकी दुर्वलताकी आधार-शिला पर हुआ है। समाज-व्यवहारमे धर्म व अहिंसा उत्तम अर्थमे और हिंसा व पाप कुत्साके अर्थमे ग्राह्य है। मनुष्य अपने आपको उत्तम ही देखना चाहता है। यही कारण है कि वह अगणित प्राणियोका नाश करता हुआ भी अपने कार्यमात्र पर धर्मका लेविल लगाना चाहता है।

उन्होंने वताया—यह अहिंसाके साथ खिलवाड है। यदि उसका कार्य हिंसाके बिना नहीं चलता तो उसे मानना चाहिए कि मैं इस सीमा तक हिंसक हू। हिंसक कहलानेसे उसके हृदयमे भय क्यों ?

एक आदमी घोडेपर सवार होता है, या उसे अपनी वैयक्तिक या सामाजिक आवश्यकताके अनुसार होना पड रहा है तो उसे यह सोच नहीं लेना चाहिए—इसकी पीठ पर चढना मेरा धर्म है और मुझे लिये फिरना इसका। यह तो तभी हो सकता था कि इस समझौते पर घोडेके हस्ताक्षर करा लिये जाते। उसे सोचना तो यह चाहिए कि मैं भी एक प्राणी हू और यह भी एक प्राणी है। मुझे कोई अधिकार नहीं कि इसकी स्वतन्त्रताको नष्ट कर इसकी पीठ पर वैठू पर मेरी यह धृष्टता या दुर्वलता है कि इसकी पीठका त्याग नहीं कर सकता। ठीक इसी तरह समझना चाहिए कि विविध दृष्टिकोणसे विविध कार्य हमे करने पडते हैं,

वे हमारे सामाजिक कर्तव्य है। इस धरातल पर रहकर हम उन्हें छोड नहीं सकते पर अध्यात्म-दृष्टिकोणसे हिंसा तो है ही।

महात्मा गाधीके जीवनमे भी ऐसे अनेक प्रसंग आये, जिनमे उन्हें आवश्यक और अनावश्यक हिंसाके विषयमे अपना स्पष्ट मन्तव्य देना पडा। नीचे एतद् विषयक उद्धरण दिये जाते है। आशा है, पाठकजन उनका मननपूर्वक तुलनात्मक अध्ययन करेंगे।

"अहिंसाके माने सूक्ष्म जन्तुओसे लेकर मनुष्य तक सभी जीवोके प्रति समभाव।"

(मगल प्रभात पृष्ठ १८२)

"पूर्ण अहिंसा सम्पूर्ण जीवधारियोके प्रति दुर्भावनाका सम्पूर्ण अभाव है, इसलिए वह मानवेतर प्राणियो, यहा तक कि विषधर कीडो और हिंसक जानवरोका भी आलिगन करती है।"

(गाधी वाणी पृष्ठ ३७)

महात्मा गाधीने एक बार कहा था—

"प्लेगके चूहे और चीचड भी मेरे सहोदर है। जीनेका जितना अधिकार मेरा है, उतना ही उनका है।"

ऐसा कहते हुए भी उन्होंने चूहे और चींचड मारनेके डाक्टर भास्कर पटेलके प्रयत्नका बिना संकोच समर्थन किया। बादमे जब उस पर टिप्पणी हुई, तब महात्माजीने उसका खुलासा किया। उन्होंने कहा—

"श्रद्धा और कर्ममें विरोध किसलिए ? विरोध तो अवश्य है ही।

जीवन एक झखना है। इसका ध्येय पूर्णता अर्थात् आत्मसाक्षात्कार के लिए मन्थन करनेका है। हमारी निर्बलताओ और अपूर्णताओके कारण आदर्शको नीचे गिराना नही होना चाहिए। मुझमें निर्बलता और अपूर्णता दोनो है, इसका दुखद भान मुझे है।"

"हालाकि बोरसदके लोगोके सामने मैंने अपने सहोदर चूहे, चीचड के विनाशका समर्थन किया तथापि मैंने जीवमात्रके प्रति शाश्वत प्रेम-धर्मका शुद्ध रूप भी बतलाया। इसका पूर्णतासे पालन मुझसे इस जन्ममें न हो सके तथापि इस सम्बन्धकी मेरी श्रद्धा तो अविचल रहेगी।" —(जीवमात्रकी एकता, व्यापक धर्मभावना पृष्ठ ९, १०)

"मनुष्यका जीवन अनेक झाडझोसे भरा हुआ है। तात्त्विक दृष्टिसे जो सत्य मालूम देता है, उसे भी आचरणमें उतारना सदा सरल नहीं होता। यह छोटा सा दाखला ही लीजिए न, जीवमात्र समान हैं, एक हैं, हमें पापी और साधुके प्रति एक बुद्धिसे बरतना चाहिए। गीता कहती है—इसप्रकार हमें ब्राह्मण, कुत्ते और चाण्डालके प्रति समदर्शी होना चाहिए। परन्तु मेरा ही उदाहरण लो न, मैंने खुदने सर्प नही मारा यह ठीक है, किन्तु इसके मारनेमें कारण तो हुआ हो। मै मानता हू कि मुझे ऐसा नही करना चाहिए था। परन्तु तुम लोग देखते हो, मै इसे रोक नहीं सका, परन्तु मै रोक नही सकता ऐसा विचार करू? यह किसीका काम नही। मै सनातन (शाश्वत) सिद्धान्तका त्याग नहीं कर सकता। यह सिद्धान्त है कि जीवमात्र एक हैं, मेरी ईश्वरसे प्राथना है कि मेरे मनसे सर्पका भय दूर करे। हमलोग जैसे दूसरोको हाथमें लेते हैं, उसी तरह सर्पको

भी हाथमे ले सकें, ऐसी अहिंसा सिद्ध करने जैसा मुझमें बल दे। सिद्धान्त वह सिद्धान्त है, हमलोग सिद्धान्तको पालन करनेमे असमथ हैं, इसकेलिए सिद्धान्तको किसीप्रकार नीचे नही गिराया जा सकता। हमें इसे पहुचनेका प्रयत्न करना चाहिए और वह परिश्रम ज्ञानपूर्वक, विचारपूर्वक और परिश्रमपूर्वक करना चाहिए।"

(सतत प्रयत्नना जरूर, व्यापक धर्म भावना पृष्ठ १७७-१७८)

उपरोक्त प्रसंगोंके बाद यह स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य भिक्षु और महात्मा गाधीकी विचारधारायें अहिंसाके इस पहलू पर किसप्रकार एक दूसरेकी समर्थक हो जाती हैं या दोनों परस्पर एक हो जाती है।

या यह जान लेना भी आवश्यक है कि महात्मा गाधीने उपरोक्त प्रसंगोके अतिरिक्त कई एक अन्य प्रसंगों पर हिंसाकी आज्ञा दी है, उसका अनुमोदन किया है। कई स्थानों पर उन्होने वन्दर आदि प्राणियोंकी हिंसामे धर्म और पुण्य भी कह दिया है किन्तु पूर्वापरके सारे प्रकरणोंका मनन करनेसे यही सिद्ध होता है कि वहा सर्वत्र उनका सामाजिक दृष्टिकोण रहा है और उस अनिवार्य हिंसाको उन्होने समाजधर्म कहा है। जैसा कि एक स्थानपर वे कहते है—'खादीमे मैंने शुद्ध समाजधम देखा", इससे स्पष्ट है कि व्यापक धर्म या अध्यात्म धर्म उनकी भावनामे और ही रहा है। प्लेगके चूहोंकी हिंसा, जो कि एक वड़ी से वडी समाज सेवा मानी जाती है, उसे भी जव उन्होंने अपनी दुर्वलता या अपूर्णताका फल माना है, तव यह स्पष्ट ही है कि जहा कहीं

उन्होने हिंसाको कर्तव्य माना है, वहा मौलिक दृष्टिकोण वही है।

पाठकोके ध्यानमे रहे कि ऊपर जो आचार्य भिक्षु और महात्मा गाधीकी अहिंसाका सन्तुलन किया गया है, वह केवल सिद्धान्तसापेक्ष है, न कि साधनासापेक्ष, अर्थात् सिद्धान्त एक है, साधना दोनोंकी भिन्न-भिन्न है।

महात्मा गाधीने अपनी सामाजिक भावनाका परिचय देते हुए यदा कदा सूक्ष्म और स्थूल हिंसाको प्रोत्साहन दिया है और उस हिंसासे दूर होनेकी भी उनकी भावना रही है, ऐसा उनके शब्दोंसे प्रतीत होता है। आचार्य भिक्षु साधु होनेके नाते सर्वथा समाजनिरपेक्ष रहे। उन्हें अपने जीवनमे सूक्ष्मसे सूक्ष्म हिंसाका भी अनुमोदन मान्य नहीं था।

सूक्ष्म हिंसा

भगवान् श्री महावीरने वताया था—पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि और वनस्पति ये भी सूक्ष्म जीव है। मनुष्यके आख, कान आदि पाच इन्द्रिया है पर इन जीवोंके केवल एक स्पर्श इन्द्रिय है। तथापि आहार, श्वासोच्छ्वास आदि क्रियायें इनके भी होती है, सुख-दु:खकी अनुभूति भी इनके है। जीवत्वकी दृष्टिसे इनमे और मनुष्योंमे कोई अन्तर नही अर्थात् एक मनुष्यकी आत्मा कर्मानुसार इन योनियोंमे आ सकती है और पृथ्वी आदि के जीव मनुष्य-योनिको प्राप्त कर सकते है।

आचार्य भिक्षुको इन जीवोके विषयमे उपरोक्त विचाराधारा अक्षरश मान्य थी। इसलिए उनके अहिंसाके विवेकमे यह भी एक विशेष पहलू था। उन्होने वताया कि हिंसासे पूर्णत. वचना

संसारी प्राणियोके लिए असाध्य सा है तथापि अहिंसावादीको इन जीवोकी अनावश्यक हिंसासे बचनेके लिए तो प्रतिक्षण विवेक-पूर्वक सचेष्ट रहना ही चाहिए। इस कथनानुसार ही बारह व्रत-धारी गृहस्थोको इस हिंसाके विषयमे भी एक परिमाण-रेखा खींचनी पडती है अर्थात् जीवनकी आवश्यकताओको मर्यादित कर शेष हिंसाका त्याग करना पडता है।

आतात्त्विकोंकी दृष्टिमे आजके भौतिक युगमे यह विवेक एक उपहासकी वस्तु बनती है पर अहिंसाके अन्तस्तलमे प्रवेश करने-वालोकी दृष्टिमे यह विवेक परमावश्यक है।

महात्मा गाधीके जीवनमे तद्विषयक श्रद्धा और साधना कैसी थी, वह उनके जीवनके कुछ प्रसगोसे हम भलीभाति जान सकते हैं। वे बतलाते हैं :—

अग्निको प्रकट करनेमें हिंसा होती ही है, फिर उस अग्निमें हरी व सूखी वस्तुका होम करना विशेष हिंसा है—यह अनुभव-सिद्ध बात है। शास्त्रोमें यह कही नही कहा कि पूर्वमें जो यज्ञ होते थे, उनमें हिंसा नही होती थी। पर यज्ञार्थ की हुई हिंसामें शास्त्रोने निर्दोषताका आरोपण किया, जैसा कि निरामिष-आहारी वनस्पति खानेमें हिंसा है, ऐसा जानते हुए भी निर्दोषताका आरोपण कर मनको सन्तोष देते अर्थात् फुसलाते है।"

(यज्ञनो अर्थ (व्यापक धर्मभावना) पृष्ठ ३०८)

उपरोक्त पक्तियोसे कई बातो पर सीधा प्रकाश पडता है। प्रथम—अग्नि जीव है, द्वितीय—वनस्पति जीव है, तीसरी यह

कि लोग इस हिंसाको साधारण मानकर निर्दोष अर्थात् अहिसक होना चाहते है। यह तात्त्विक नहीं, यह तो केवल मनको भुलावा देना है अर्थात कोई मनुष्य मास नहीं खाकर वनस्पति खाता है तो वह एक बडी हिंसासे दूर होता है पर वनस्पति खाता है, वह कोई अहिंसा नहीं है क्योंकि वनस्पति भी तो जीव है, वहा निर्दोषताका आरोपण तो उसका कल्पित है।

ध्यान दें, दोनों विचारकोंकी विचारधारामे कितना सामञ्जस्य है।

महात्मा गाधी और भी एक स्थान पर लिखते हैः—

"झाड पत्ते जितनी आवश्यकता हो, उतने ही तोडने चाहिए, तोडते समय विवेक रखना चाहिए, चाहे जैसे छेदन नही करना चाहिए।"

[हिन्दू आचार (व्यापक धर्म-भावना) पृ० १७]

यह है अनावश्यक हिंसासे बचनेका उपदेश। उपदेश-विधिमे दोनों विचारकोंके एक अन्तर रहा है। आचार्य भिक्षु हिंसा-जन्य कार्योंमे निषेधात्मक विधिसे उपदेश करते थे अर्थात् वे उपरोक्त आवश्यकतावश इसप्रकार कहते थे कि झाड पत्ते आवश्यकतासे ज्यादा न तोडने चाहिए। उसी स्थान पर महात्माजी कहते है —"जितनी आवश्यकता हो, उतने तोडने चाहिए।"

साधारणतया दोनों वाक्योंमे कोई अन्तर मालूम नहीं पडता पर तत्त्वत श्री भिक्षुका वाक्य केवल हिंसाका निषेध करता है और होनेवाली आवश्यक हिंसामे निरपेक्ष है। महात्माजीका वाक्य अनावश्यक हिंसाका निषेध करता है और आवश्यक के लिए

आज्ञा प्रदान करता है। पर दोनोंमे यह कथन-भेद होना स्वाभाविक है। क्योकि आचार्य भिक्षु सन्यस्त होनेके कारण केवल अध्यात्म-पथके ही दर्शक थे, वे विशुद्ध आध्यात्मिक कार्योंमे ही आदेश देते थे, पर महात्माजी समाज-व्यवस्थापक भी थे अत· आवश्यक हिंसाका विधान भी कर सकते थे। पर दोनोंकी तद्‌विषयक धर्म-अधर्मकी श्रद्धामे कोई अन्तर प्रतीत नहीं होता। महात्माजी अपने निजके लिए आवश्यकतासे अधिक दातुन आदि तोड लेने पर तोड़नेवालेको बहुधा उलहना दे दिया करते थे। इससे पता चलता है कि आवश्यक हिंसासे बचनेका उनके हृदयमे कैसा विवेक था।

इसीप्रकार एक वार किसी व्यक्तिको जैसे-तैसे पलंगको घसीटते देखकर कहा—"इस प्रकार पलंगको खींचनेसे वायुके जीवोकी हिंसा होती है।" इससे यह भी सिद्ध होता है कि वे वायुकायको भी जीव मानते थे। पृथ्वीके जीवोंके विषयमे तो वे और भी स्पष्ट उल्लेख कर देते है। जैसे—

"जिस तरहमनुष्य मात्र ईश्वरकी कृति है, उसीतरह प्राणीमात्र ही उसकी कृति है। अत वे भी एक कुटुम्वरूप हैं अत उनके प्रति भी हमें सद्‌भावना रखनी चाहिए। अत मिट्टी या पत्थरका भी दुरुपयोग नही करना चाहिए। हमारे धर्ममें तो एसी प्रार्थना सिखाई है— हे धरती माता! तुझ पर हम राज चलते है, तेरे ही आधारसे हम टिकते है, हमारे पैरके स्पर्शके लिए हमें माफकर।"

(विवरण-पत्रिका, अगस्त १९४७ गाधी और गाधीवाद पृष्ठ २७३-२७४)

इत्यादि प्रकरणोंसे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि आचार्य भिक्षु और महात्मा गाधीका इस विषयमे एक सा ही विश्वास था और एकसा ही उपदेश। आचार्य भिक्षुकी यह धारणा जैन-शास्त्रोके आधार पर थी और महात्माजीकी संभवतः जैन व वैदिक दोनो ही के धर्मग्रन्थोंके आधार पर। पृथ्वी व वनस्पति आदिको जीव मान लेना ही इतना महत्त्वपूर्ण नहीं था, महत्त्वपूर्ण तो इस हिंसाकी भी विरक्तिका उपदेश है, उससे भी महत्त्वपूर्ण है इस प्रकारकी अनिवार्य हिंसाको भी धर्म न मानना।

जो अहिंसाका आदर्श लोक-व्यवहारके साथ इतना घुलमिल गया था कि साधारण जनताकी तो बात ही क्या, बड़े बड़े धर्माचार्य भी उस हिंसाको हिंसा या पाप कहनेका साहस नहीं कर सकते थे। उक्त दो विभूतियोंने अहिंसाके खण्डित आदर्शोंको शताब्दियों और सहस्राब्दियोंके बाद पुनः यथावस्थित रूपसे जनताके सम्मुख उपस्थित किया।

आचार्य भिक्षुने धर्म-अधर्मके विवेचनमे कहीं भी इस सूक्ष्म हिंसाकी अवगणना नहीं की। महात्माजी भी इसप्रकारकी हिंसासे किस प्रकार परिचित थे, यह निम्नोक्त उद्धरणसे भली-भाति जाना जा सकता है—

"अहिंसा एक व्यापक वस्तु है। हमलोग ऐसे पामर प्राणी है, जो हिंसाकी होलीमें फसे हुए है। 'जीवो जीवस्य जीवनम्' यह बात असत्य नही है। मनुष्य बाह्य हिंसाके बिना जी नही सकता, खाते-पीते, उठते-बैठते, इच्छासे या अनिच्छासे कुछ न कुछ हिंसा करता ही

रहता है। इस हिंसासे छूट जानेका वह महान् प्रयास करता हो, उसकी भावनामें केवल अनुकम्पा हो, वह सूक्ष्म जन्तुका भी नाश न चाहता हो तो समझना चाहिए, वह अहिंसाका पुजारी है उसकी प्रवृत्तिमें निरन्तर सयमकी वृद्धि होती रहेगी, उसकी करुणा निरन्तर बढती रहेगी। परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि बाह्य हिंसासे कोई भी देहधारी सर्वथा मुक्त नही हो सकता।"

(—युद्ध और अहिंसा (धर्मकी समस्या) पृष्ठ १७५)

साधारण हिंसाके विषयमे कितना स्पष्ट और सुन्दर उल्लेख है। आचार्य भिक्षुकी दृष्टिमे पूर्णरूपसे पाच महाव्रतोका पालन करनेवाला पूर्ण अहिंसक कहलानेका अधिकारी है। इनके कथनानुसार भी उक्तप्रकारके साधु व वीतरागके द्वारा भी अपरिहार्य हिंसा हो सकती है, पर वह भाव-हिंसा नहीं, द्रव्य-हिंसा है। गाधीजीके शब्दोमे उसे यदि हम 'बाह्य हिंसा कहें तो आचार्य भिक्षुकी दृष्टिसे भी यह ठीक होगा कि बाह्य (द्रव्य) हिंसासे देहधारी सर्वथा मुक्त नहीं हो सकता। आचार्य भिक्षुने अपने धर्म - अधर्मके विवेचनमे इन स्थावर प्राणियोकी कहीं भी उपेक्षा नहीं की। इन प्राणियोकी अहिंसामे उनका कितना दृढ विश्वास था, इसका परिचय तो उनके निम्नोक्त शब्दोसे ही मिलता है।

जो व्यक्ति इन साधारण प्राणियोकी हिंसा कर खान-पान आदिसे मनुष्यको सुखी बनाते हैं, फिर उसमे धर्म होनेकी दुहाई देते हैं, उनके लिए कहा है —

"राकाने मार धींगाने पोषे,
आ तो बात दीसे घणी गैरी।
इण माहो धर्म परूपें,
तो राका जीवा रा उठिया वैरी ॥"

(अनुकम्पा १३ वी गीति)

इन वनस्पति, जल आदि राक (असमर्थ) प्राणियोंकी हिंसा कर मनुष्य आदि समर्थ प्राणियोंका पोषण करना और उसमे फिर धम मानना, बडी अजीब सी बात है। इस प्रकार धर्म बतानेवाले व्यक्ति इन राक प्राणियोंके लिए तो शत्रुरूप अवतरित हुए है।

निकटभूतमे बहुतसे अहिंसावादी इस भारतवर्षमे पैदा हुए है, जिन्होंने पशु-पक्षियोंकी करुण पुकार पर ध्यान लगाया पर इन स्थावर प्राणियोंकी मूक भावनाका अध्ययन करनेवाले संभवतः आचार्य भिक्षु पहले ही थे, जिन्होंने संसारको बताया कि इस हिंसाका सर्वथा त्याग यदि असंभव है तो इसमे धर्म मानकर हिंसामे आहूति तो न दीजाय।

गांधीजी एक समस्या

महात्मा गाधीकी अहिंसाका एक पहलू जनतामे वहुत कुछ सन्दिग्ध सा हो रहा है। अभीतक वहुतसे व्यक्ति उस पहलूको प्रकाशमे नहीं पासके हैं। वह सन्दिग्धता एक वहुत वडी समस्या पैदा कर देती है। वह भी यहा तक कि एक ओर महात्मा गाधी अहिंसाके परम आदर्श पर देख जाते है और दूसरी ओर सर्वथा इसके विपरीत। इस समस्याके मूल हैं—महात्माजी द्वारा दिए गए हिंसाके आदेश और विभिन्न स्थानों पर विभिन्न अपेक्षासे वताया गया धर्म और पाप। जव कि प्रस्तुत पुस्तकका विपय तुलनात्मक विवेचन है, यह आवश्यक हो जाता है कि सम्पूर्ण तुलनाके पूर्व हम इस विपयमे असन्दिग्ध स्थितिको पालें। एक ओर वे लिखते हैं —

"राकानै मार धीगानै पापै,
आ तो बात दीसै घणी गैरी।
इण माही धर्म परूपै,
तो राका जीवा रा उठिया वैरी॥"

(अनुकम्पा १३ वी गीति)

इन वनस्पति, जल आदि राक (असमर्थ) प्राणियोंकी हिंसा कर मनुष्य आदि समर्थ प्राणियोंका पोषण करना और उसमे फिर धर्म मानना, बड़ी अजीब सी बात है। इस प्रकार धर्म बतानेवाले व्यक्ति इन राक प्राणियोंके लिए तो शत्रुरूप अवतरित हुए है।

निकटभूतमे बहुतसे अहिंसावादी इस भारतवर्षमे पैदा हुए हैं, जिन्होंने पशु-पक्षियोंकी करुण पुकार पर ध्यान लगाया पर इन स्थावर प्राणियोंकी मूक भावनाका अध्ययन करनेवाले संभवतः आचार्य भिक्षु पहले ही थे, जिन्होंने संसारको बताया कि इस हिंसाका सर्वथा त्याग यदि असंभव है तो इसमे धर्म मानकर हिंसामे आहूति तो न दीजाय।

गांधीजी एक समस्या

महात्मा गाधीकी अहिंसाका एक पहलू जनतामे बहुत कुछ सन्दिग्ध सा हो रहा है। अभीतक बहुतसे व्यक्ति उस पहलूको प्रकाशमे नहीं पासके हैं। वह सन्दिग्धता एक बहुत बडी समस्या पैदा कर देती है। वह भी यहा तक कि एक ओर महात्मा गाधी अहिंसाके परम आदर्श पर देख जाते है और दूसरी ओर सर्वथा इसके विपरीत। इस समस्याके मूल है— महात्माजी द्वारा दिए गए हिंसाके आदेश और विभिन्न स्थानों पर विभिन्न अपेक्षासे बताया गया धर्म और पाप। जब कि प्रस्तुत पुस्तकका विषय तुलनात्मक विवेचन है, यह आवश्यक हो जाता है कि सम्पूर्ण तुलनाके पूर्व हम इस विषयमे असन्दिग्ध स्थितिको पालें। एक ओर वे लिखते है —

'प्राणी मात्रके प्रति दुर्भावनाका सर्वथा अभाव अहिसा है।"

"हम आदर्शोको नही पहुच सकते, वह हमारी दुर्बलता है, पर इसलिए आदर्शको नही गिराना चाहिए" आदि।

दूसरी ओर वे लिखते है :—

"एक भाई जो शास्त्रादिके अभ्यासी है, लिखते है कि बन्दर कैसे रसोई बिगाडते है, चीज उठा ले जाते है, फलमात्र खा और बिगाड जाते है, यहातक कि बच्चोको भी उठा ले जाते है। दिन-दिन उनकी बढोतरी होती है, उनके लिए अहिसा क्या कहती है, वह मुझसे पूछते है।

मेरी अहिसा मेरी ही है। जीव-दयाका जो अर्थ किया जाता है, उसे मै हजम नही कर सकता। जो जीव मनुष्यको खा जाय या उसका नुकसान करे, उसे बचानेकी दया मुझमे नही है। उनकी बढोतरीमे हिस्सा लेना मै पाप समझता हू। इसलिए मै चीटियो, बन्दरो और कुत्तोको खाना नही खिलाऊगा। उन जीवोका बचानेके लिए मै मनुष्य को नही मारूगा।

इस तरह विचार करते हुए मै इस नतीजे पर आया हू कि बन्दर जिस जगह उपद्रवरूप हो गये है, उस जगह उनको मारनेमें जो हिंसा होती है वह क्षम्य है, ऐसी हिंसा धर्म होतो है।

यह सवाल उठ सकता है कि मनुष्यके लिए यही नियम क्यो न लगाया जाय, अर्थात् बन्दरोकी तरह कोई मनुष्य ऐसा दुष्ट है जो दूसरोको दुख पहुचाता हो, उसको मारना भी क्षम्य और धर्म क्यो नही मान लिया जाय। मनुष्यके लिए यह नियम नहीं लग सकता,

ईश्वरने मनुष्यको बुद्धि दी है, वह मनुष्येतर प्राणीको नही अर्थात् मनुष्यको मारना क्षम्य और धर्म नही माना जा सकता।"

—(—मो० क० गाधी
हरिजन २६-४-४६)

पाठक ध्यान दें, कहां तो जीवमात्रकी समानताका सिद्धात और कहा मनुष्योकी सुख-सुविधाके लिए वन्दरोकी हिंसा भी धर्म और कहा प्राणी-जगत्मे मनुष्यकी श्रेष्ठताका विश्वास। पुन. एक स्थान पर लिखते हैं .—

"नीति उसी वक्त धर्म रह सकती है जबकि उसे चलाया जाय, उसके बाद नही। धर्मकी और बात होती है, वह तो अमर है, कभी बदल नही सकता।"

—(हिन्दुस्तान १५ जुलाई १९४७)

एक स्थान पर धर्मकी अपरिवर्तनशीलता बताकर अन्यत्र लिखते है —

"एकका धर्म दूसरेके लिए अधर्म हो सकता है। मास खाना मेरे लिए अधर्म है, मगर जो मास पर ही पला है, जिसने मास खानेमें कभी बुराई नही मानी, वह मुझे देखकर मास छोड दे, वह उसके लिए अधर्म होगा।

"मुझे खेती करनी हो, जगलमें रहना हो तो खेती करनेके लिए लाजिमी हिंसा मुझे करनी ही होगी। वन्दरो परिन्दो और ऐसे जन्तुओको जो फसल खा जाते है, खुद मारना होगा या ऐसा आदमी रखना होगा जो उनको मारे, दोनो एक ही चीज है। जब अकाल सामने हो, तब अहिंसाके नाम पर फसलको उजडने देना मैं तो

पाप ही समझता हू । पाप और पुण्य कोई स्वतन्त्र चीजे नही है । एक ही चीज एक समय पाप और एक समय पुण्य हो सकती है ।"

मसूरी, २९-५-४३

(—'हरिजनबन्धु' से)

इसीप्रकार एक स्थान पर और लिखते है —

"मछली या मास खानेवालेका य चीजे खानेदेनेमे जो हिंसा होती है, उसे मै हिंसा नही मानता । मै उसे अपना धर्म समझता हू ।"

(—दैनिक हिन्दुस्तान)

ठीक इन पंक्तियोंके अनन्तर ही लिखते है .—

"अहिंसा परम धर्म है ही, हम उसका पूर्णतासे पालन न कर सकें तो भी उसके स्वरूपको समझकर हिंसा जितना बच सके, बचे ।"

इत्यादि सन्दिग्ध प्रसंगोके कारण ही गाधीजी एक समस्या बन जाते है । भिन्न-भिन्न प्रकारकी आलोचनाएं इस विषयमे हमारे सामने आती है—कई कहते है, उनकी अहिंसा केवल मनुष्य तक ही सीमित थी । वे एक राजनैतिक व्यक्ति थे । मानव, देश और संसारके लिए ऐहिक दृष्टिसे जो ठीक था, वही उनका धर्म था ।

कई कहते है—महात्मा गाधीकी अहिंसा परिपक्व अर्थात् निश्चित नहीं थी । वे जैसा प्रसग देखते थे, उस समय वैसा ही उसका समाधान कर दिया करते थे । यही कारण है कि उनके बहुतसे सिद्धान्त परस्पर विरोधी देखे जाते है । वे एक जगह जिस हिंसाको पाप कहते है, दूसरी जगह उसी हिंसाको धर्म कह देते है ।

कई कहते हैं—गाधी -अहिंसा और जैन-अहिंसाके अनुरूप ही है तो कई कहते हैं कि गांधी-अहिंसाका जैन-अहिंसाके साथ सन्तुलन करना जेन-अहिंसाका अपमान करना है आदि।

इसप्रकार वहुतसे विवाद अच्छे-अच्छे पत्रोंमे और जन-समूहमे पढे और सुने जाते है। पर किसी भी व्यक्तिकी विचार-धाराको समझनेके लिए इधर-उधरसे दो-चार स्फुट प्रसगोको पढ कर जो निर्णय किया जाता है वह किसीप्रकार विश्वस्त नहीं होता उपरोक्त विभिन्न निर्णय इसी बातके सूचक है। वास्तविक निर्णय तो मूलत समस्त विपयके मन्थनसे ही पैदा हो सकता है।

नीचे के उद्धरणो पर ध्यान दें। पूर्वोक्त सारे प्रसगोका वहा सुन्दर स्पष्टीकरण मिलेगा। 'अहिंसा' नामक पुस्तकके पृष्ठ १२८ पर 'हिंसक-प्राण-हरण' शीर्षक प्रकरणमें महात्मा गाधी लिखते है —

"आश्रममे वन्दरोका उपद्रव दिनो दिन वढता ही जाता है। वे फल, झाड और शाक-भाजीका नाश कर रहे है। इस उपद्रवसे वचनका उपाय मै खोज रहा हू। जो इस सम्बन्धमें रास्ता वतला सकते है, वैसे लोगोकी सलाह ले रहा हू। मुझे अवतक कोई निर्दोष उपाय नही मिला है किन्तु अनेक आदमियोके साथ चर्चा करता हू और इसलिए शहरमे अनेक तरहकी अफवाह चल रही है और मेरे पास कई तीन पत्र आये है। एक पत्र लेखक मानते है कि आश्रममें तीरसे वन्दरोका घायल किया जाता है और कितने वन्दर मर भी गये है। यह खवर झूठी है। वन्दरोका हाक निकालनेका प्रयत्न अवश्य

चलता है। तीर भी काममें लाये गये है। किन्तु न कोई वन्दर घायल किया गया है और न कोई मरा है। घायल करनेका काम खुद मेरे लिए असह्य है। अनिवार्य हो पडे तो उन्हे मार डालनेका चर्चा मै कररहा हू।"

वन्दरको मार भगानेमें मै शुद्ध हिसा ही देखता हू। यह भी स्पष्ट है कि उन्हे अगर मारना पडे तो उसमें अधिक हिसा होगी। यह हिसा तीनो कालमें हिसा ही गिनी जायगी। उसमें वन्दरके हित का विचार नही है किन्तु आश्रमके ही हितका विचार है।"

"देहधारी जीवमात्र हिसासे जीते है। उसके परम धर्मका दर्शक शब्द नकारवाचक निकला। जगत् यानी देहमात्र हिसामय है और इससे अहिसा-प्राप्तिके लिए देहको आत्यन्तिक मोक्षकी तीव्र इच्छा पैदा हुई।"

"हिसाके विना कोई देहधारी प्राणी जी नही सकता। जीनेकी इच्छा छूटती ही नही है। अनशन करके छूटनेकी इच्छा मनको नही है, देह अनशन करे और मन अनशन न करे तो यह अनशन दम्भमें खपायेगा और आत्माको अधिक वन्धनमें डालेगा। ऐसी दयावती स्थितिमें रहकर जीनेकी इच्छा रखता हुआ जीव भला क्या करे ? कैसी और कितनी हिसा अनिवार्य गिने ? समाजने कितनी एक हिसाओको अनिवार्य गिनकर व्यक्तिको विचार करनेके भारसे मुक्त किया तो भी प्रत्येक जिज्ञासुके लिए अपना क्षेत्र जानकर उसे नित्य छोटा करनेका प्रयत्न तो बाकी रहा ही है।"

"इस दृष्टिसे सर्वव्यापी खेतीके धन्धेमें रही हुई हिसाकी मर्यादा

का निश्चय अहिंसा-धर्म पालन करनेकी इच्छा रखनेवाले किसानको करना रहा है। मै अपनेको किसान मानता हू मेरे सामने कोई सीधी लीक नही पिटी हुई है। प्रत्येक किसान बिना विचारे किसी न किसी तरहसे अपना गुजर चला ही लेता है। क्योकि विशिष्ट वर्गने उसकी अवगणना की है। उनके जीवनमें भाग नही लिया है, दिलचस्पी नही ली है और इसलिए वे अपने जीवनमें उत्तरोत्तर उन्नति नही कर सके है। इसलिए मेरे जैसे किसानको तो अपना मार्ग ढूढकर दूसरे किसान भाइयोके लिए होसके तो मार्गदर्शक बनना रहा।"

"इस तरह खेती पर लागू होनेवाले अनेक प्रश्न जो नित्य पैदा होते है, उनमेसे बन्दरोका अटपटा प्रश्न भी एक है।"

"किन्तु उसे मृत्युदण्ड देनेमें हिंसा तो है ही, इसलिए यह अन्तिम कार्रवाई करनेके पहले जितने लोगोकी सलाह ली जा सके उतनोकी मै लेना चाहता हू। और नवजीवनके पाठकोमेंसे अगर कोई अनुभवी सज्जन आश्रमको रास्ता बतला सकेंगे तो वे उपकार करेंगे।"

मैने सुना है कि गुजरातके किसान ऐसे उपाय रखते है कि उन्हे देखते ही बन्दर डरकर भाग जाते है और यो किसान मानते है कि हम अन्तिम हिंसासे बचे। यह संभावित है किन्तु इसके बाद तो मरण दड है ही। तथापि मै जानता हू कि बन्दर ऐसे विलक्षण होते है कि उन्हें कोई मारनेवाला नही है, तब वे गोलीकी बाढसे भी नही डरते और उल्टे किलकारी करते है। इसलिए कोई सलाहकार यो न माने कि इस उपद्रवसे खेतीको बचानेका एक भी उपाय आश्रमने न जाना न

विचारा है। जितना जाना है उन सबमे हिसा तो है ही। जो बिना हिसाके इस उपद्रवसे खतीको न बचाया जा सके तो यह विचार करना रहा कि कमसे कम कितनी हिसासे बचाया जा सकता है। इसमें मै अनुभवीकी मदद चाहता हू।"

(अहिसा नामक पुस्तक पृ० ५०-५२)

८

"बन्दरोके बारेमें मै अपना धर्म नही जानता। इस कारण ज्ञान प्राप्त करनेके लिए मैने चर्चा की है। इस बारेमे मुझे सहायक पत्र मिले है। बन्दरोके बारेमें मै इतना कह दू कि जब मेरा कुछ भी नही चलेगा, तभी प्राण हरण तक मे जाऊगा। मै जानता हू कि मेरा धर्म उसमेसे वच जाना है। उसमेंसे बचनेके लिए ही यह चर्चा है।"

(अहिसा नामक पुस्तक पृ० ५४)

एक बार महात्मा गाधीसे प्रश्न किया गया :—

"कोई मनुष्य या मनुष्योका समुदाय लोगोके बडे भागको कष्ट पहुचा रहा हो, दूसरी तरहसे उसका निवारण न होता हो तब उसका नाश करें तो यह अनिवार्य समझकर अहिसामे खपेगा या नही? इस स्थलमें भी पापी—पीडा देनेवालेका वध-करनेमे भावना ऊची होनेसे वह वध क्या अहिसक नही गिना जायगा? फसलका नाश करनेवाले जीवोके नाशको आपने हिसा नही गिना है। उसी भाति मानव-समाज का नाश करनेवाले आदमीके नाशको क्या आप अहिसा न मानेगे?"

महात्माजीने उत्तर दिया :—

"विवेकी पाठक तो यह देख ही गये होगे कि इस पत्रमे मेरे लेख का अनर्थ हुआ है। अहिसाकी जो व्याख्या मैने दी है, उसमे ऊपरके

तरीके पर मनुष्य-वधका समावेश हो ही नही सकता। किसान जो अनिवार्य जीव नाश करता है, उसे मैंने कभी अहिंसामें गिनाया ही नही है। यह वध अनिवार्य होकर क्षम्य भले ही गिना जाय, किन्तु अहिंसा तो निश्चय ही नही है। किसानकी हिंसामें या लेखकने जो दृष्टान्त दिया है उसमें रही हुई हिंसामें समाजका स्वार्थ छिपा हुआ है। अहिंसामें स्वार्थको स्थान नही है।

पत्र लेखकके प्रश्नका मिलान बन्दरोके प्रश्नसे जरूर किया जा सकता है मगर तो भी दोनोंमें बहुत भेद है। बन्दरका हृदय-परिवर्तन करनेका कोई सामाजिक उपाय हमारे पास नही है, इसलिए उसका प्राण-हरण शायद क्षम्य गिना जाय, किन्तु पापीसे पापी कष्ट देनेवाले मनुष्यका हृदय-परिवर्तन हमेशा शक्य है। ऐसे परिवर्तनके लिए इलाज की भी योजना समाजने की है। इसलिए अहिंसक प्रकरणमें स्वार्थी-मनुष्य-वधको कभी स्थान नही मिल सकता मुझे ऐसा नही सूझ सकता कि मनुष्य-वध अनिवार्य होवे। अब रही भावनाकी बात। यह यथार्थ है कि मैंने भावनाको प्राधान्य दिया है। किन्तु अकेली भावनासे अहिंसा नही सिद्ध हो सकती। किन्तु यह भी उतना ही सच है कि कोरी भावनासे ही अहिंसा न मानी जायगी। भावनाका माप भी कार्य परसे ही निकालना पड़ता है। और जहा स्वार्थके वश होकर हिंसा की गई है वहा भावना चाहे कितनी ही ऊची क्यो न हो, तो भी स्वार्थमय हिंसा तो हिंसा ही रहेगी। इससे उलट जो मनमें वैर-भाव रखता है, किन्तु लाचारीसे उसे काममें नही ला सकता, उसे वैरीके प्रति अहिंसक नही कहा जा सकता। क्योकि उसकी भावनामें वैर छिपा हुआ है

इसलिए अहिंसाका माप निकालनेमें भावना और कार्य दोनोंकी परीक्षा करनी होती है ।"

(अहिंसा पृष्ठ ५७)

एक बार एक किसान भाईने पत्र लिखा :—

"हमारे गावके नजदीक ढोरोंकी चरागाह है । उसमें ५-७ हजार हरिण है । वे हमारी कपासके अकुर खा जाते है । हम बहुत हैरान होते है । ठाकर लोगोको रक्खे तो वे उन्हे मार सकते हैं मगर वे तो इनका मास भी खाते है । हमारे जैसे लोगोंको आप क्या सलाह दीजियेगा । इसके अलावा खापरडा (एक जातिका कीडा) हमारे बीज और अनाज खा जाते है । खेतमे अगर आग जलावें तो उसमे ये आ पडते है और यो हमारे अनाजकी रक्षा हो तो हमें आग जलानी चाहिए या नही ?"

महात्माजीने जो उत्तर दिया, वह अन्तर भावनाको स्पष्ट व्यक्त करता है :—

"यह प्रश्न बन्दरवाले प्रश्नके सम्बन्धमें है । हिंसाके मार्गमे किसी का भी नेतृत्व करनेमे असमर्थ हू । यह कोई तीसरा आदमी नही बतला सकता—किस हद तक किसीको हिंसा करनी चाहिए, किन्तु सभीको अपनी-अपनी शक्तिके अनुसार अपना रास्ता ढूढना चाहिए । सामान्य रीतिसे यो कहा जाता है कि बन्दरको मारना मै शायद अनिवार्य मानू तो इससे दूसरोका भी हरिणको मारनेके लिए तैयार होना न्याय-बुद्धि नही किन्तु अज्ञानमय अनुकरण है । फिर बन्दरको मारनेका निर्णय मै कर ही नही सका हू । और यह भी नही देखता हू कि मै इस

निणय पर जल्दी आ सकूगा। ऐसे निर्णयसे जहा तक दूर रहा जा सके रहनेका मेरा प्रयत्न आज है और हमेशा रहेगा। इसके अलावा हरिण को दूर रखनेके कई उपाय मिल सकते है, जो बन्दरके समान बहुत मुसीबतसे हाथमें आसकनेवाली जातिके सम्बन्धमें अशक्य हो पडते है। यह तो हरएक किसान क्षण-क्षणमें अनुभव करता है कि खेती के लिए छोटे-छोटे कीड़ोका नाश अनिवार्य है। इससे आगे जाकर इस वस्तुका ले जाना मेरी शक्तिके बाहर है। हिंसा करनेसे जिस अश तक बचना सभव हो, उस अश तक बचाना सबका धर्म है—यह अवश्य कहा जा सकता है।"

जहा तक मैं सोचता हू, इन स्पष्टीकरणो के बाद गाधीजी कोई समस्या नहीं रहते। यह स्पष्ट हो जाता है कि जिस किसी भी हिंसा के लिए उन्होने आदेश दिया या उसका अनुमोदन किया, वहा सर्वत्र उनकी निष्ठा तो अहिंसा मे ही रही है। हिंसा को उन्होंने सर्वत्र पाप माना है, चाहे वह कितनी ही आवश्यकता से किसी भी वैयक्तिक या अवैयक्तिक हित के लिए की गई हो। उनके उक्त प्रसगो मे कहे निम्नोक्त शब्द उनकी अहिंसाविषयक श्रद्धा को हमारे सामने साकार उपस्थित कर देते है :—

'हिंसा तीनो कालो में हिंसा ही गिना जायगी", "किसान जो अनिवार्य जीव नाश करता है, उसे मैंने कभी अहिंसा में गिनाया ही नहीं। यह वध अनिवार्य होकर क्षम्य भले ही गिना जाय किन्तु अहिंसा तो निश्चय ही नही है।"

"जगके चूहे और पीचड भी मेरे सहोदर है। जीनेका जितना

अधिकार मेरा है, उतना उनका है", आदि।

अब केवल एक ही आशंका रह जाती है कि जब अहिंसा मे उनकी यह श्रद्धा थी कि हिंसा धर्म नहीं हो सकती तो "बन्दरों के मारनेमे जो हिंसा होती है, वह क्षम्य है, ऐसी हिंसा धर्म होती है" "मछली और मास खानेवाले को ये चीजें खाने देने में जो हिंसा होती है, उसे मैं हिंसा नहीं मानता, मैं उसे अपना धर्म समझता हू" "अहिंसाके नामपर फसल को उजड़ने देना मै तो पाप मानता हू" इत्यादि कार्यों मे स्पष्ट धर्म और पापका उल्लेख क्यो किया गया ? इससे क्या यह स्पष्ट नहीं होता कि उनकी दृष्टिमे अहिंसाके परे भी कोई धर्म था, जो हिंसाके साथ भी रह सकता था ? पूर्वापर प्रसंगोंसे अवगत होनेके बाद यही मानना पडता है कि हिंसायुक्त कार्योंमे भी जहा उन्होने धर्म माना है, वहा सर्वत्र उनका सामाजिक दृष्टिकोण रहा है। उन्होने उसे अपना समाज-धर्म माना है, न कि अध्यात्म-धर्म।

आत्मधर्म और समाजधर्मका गाधीवादमे क्या स्थान है और उनका पृथक्त्व किस प्रकार मान्य है, यह किसी आगेके प्रकरणमे यथासंभव बताया जायगा।

यहा तो केवल साराशरूपमे यह जान लेना ही पर्याप्त होगा कि महात्माजी की श्रद्धा सम्पूर्ण अहिंसामे थी पर समाजका उत्तरदायित्व समझते हुए उन्हें सामाजिक दृष्टिसे आवश्यक और अनावश्यक हिंसाके बीच एक भेद - रेखा खींचनी पड़ती थी। आवश्यक हिंसाको वे उपादेय भी बताते थे। वे अपने

आपको सिद्धान्तत पूर्ण अहिंसक मानते थे पर अपनी साधना से नहीं।

जहा तक सोचा जाता है, अब गाधीजी इस विषयमे को समस्या नहीं रह जाते। तुलनात्मक विवेचनका मार्ग स्वयं स्पष्ट हो जाता है।

मोक्ष-धर्म और समाज-धर्म

आचार्य भिक्षुने अहिंसाकी व्याख्या की थी :—

"छव काय हणे हणावै नहीं,
हणतां भलो न जाणे ताय।
मन वचन काया करी,
ए दया कही जिणराय॥"

(अनुकम्पा अष्टम गीति दोहा ३)

भावार्थ—पृथ्वी, पानी, वनस्पति आदि एकेन्द्रिय और बेइन्द्रियसे पंचेन्द्रिय तक जो त्रस प्राणी है अर्थात् छः कायाके जीव है ; उन्हें मन, वचन, कायासे न मारना, न मरवाना, न किसी मारते हुएको अच्छा समझना दया है, अहिंसा है। साथ-साथ यह भी बताया कि "जो हिंसामे धर्म हुवै तो जल मथिया घी आवें।" प्राणीमात्र की हिंसा हिंसा है और हिंसामे धर्मका

सर्वथा अभाव है। आचार्य भिक्षुके सारे सिद्धान्तोकी जड यही अनन्तरोक्त उक्ति है। उन्होंने धर्म, अधर्म की प्रत्येक समस्या इस मौलिक सिद्धान्तको अक्षुण्ण रखते हुए ही हल की है। इस धर्मके मूल सूत्रको अक्षुण्ण रखनेके कारण उनके तद् विषयक बहुतसे समाधान तत्कालीन जनताकी बद्धमूल धारणाओंसे प्रतिकूल होते थे। पर उनकी आत्मामे इस बातका भय न था। वे उस सत्यको जनता व अन्य धर्म-सम्प्रदायोंके समक्ष रखनेमे जरा भी नहीं हिचकिचाते थे।

उदाहरणार्थ कुएँ बनवाना, धर्मशाला बनवाना, पाठशाला, औषधालय, पुस्तकालय आदि खोलना धर्मके मौलिक कार्य समझे जाते थे और अब भी समझे जाते हैं। आचार्य भिक्षुका इस विषयमे स्पष्ट मन्तव्य यह था—आत्माको कर्ममुक्त करनेवाला धर्म तो अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रहमय है। अक्रोध, अमान, अदम्भ, अकलह, भौतिक वासनाओंसे निवृत्ति, क्षमा, शील, सन्तोष, ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि अनेकों नामोंसे जो पहचाना जाता है। पूर्वोक्त सार्वजनिक कार्य समाज-व्यवस्थाके अंग हैं। प्रत्येक व्यक्तिको जलकी आवश्यकता होती है। एक-एक व्यक्ति यदि एक-एक कुआ खोदता है तो अनावश्यक समय, शक्ति और क्षेत्रका व्यय होता है। इसी विचारधाराके फलस्वरूप सार्वजनिकताका उद्भव हुआ। गांवके सारे व्यक्तियोंके सम्मिलित धन और शक्तिसे कुएका निर्माण होने लगा। यह एक सामाजिक व्यवस्था बन गई। अत. एक तो समाज-व्यवस्था है और

दूसरे यह हिंसासाध्य है। अतः कुआ बनवाना कोई आध्यात्मिक या पारलौकिक धर्म नहीं कहा जा सकता। आवश्यकतानुसार अन्न पैदा किया जाता है, मकान बनाया जाता है, इसी प्रकार कुआं बनाया जाता है। यह आत्म-धर्म हो भी तो कैसे? प्रश्न यह रहा कि कोई व्यक्ति केवल अपनी धन-राशिसे परोपकारार्थ यदि कुआ बनाता है, क्या वह भी मोक्ष-साधनाका कार्य नहीं है? वह परोपकार भी मानवमात्रका है न कि जल और पृथ्वीकायिक जीवोंका।

आचार्य भिक्षुका विश्वास जीवमात्र की समानतामे था।

"सव्वे जीवा वि इच्छंति,
जीविउ न मरजिउ।
तम्हा पाणिवह घोर,
निग्गन्था वज्जयंति ण॥"

अर्थात्—प्राणीमात्र जीनेकी इच्छा करते हैं। मरनेकी इच्छा कोई नहीं करता अतः प्राणी-वध पाप है।

"सव्वेसिं जीविय पिय"

अर्थात् प्राणीमात्रको जीवन प्रिय है।

भगवान् महावीरके ये वाक्य उनके प्रतिक्षणके मार्गदर्शक थे। उन्होंने बताया—कूप आदिके निर्माणमे मानवके हितकी पुष्टि है, जल और पृथ्वीके जीवोंकी नितान्त उपेक्षा है। उनका प्राणनाश वहा अवश्यंभावी है। अतः जीवमात्रकी समानतामे विश्वास रखनेवाला व्यक्ति उस साधारण हिंसाको भी धर्म नहीं

मान सकता क्योंकि अहिंसा तो 'सव्वभूयखेमंकरी' अर्थात प्राणी-मात्रके लिए क्षेमकरी है। उसका विषय केवल मनुष्य ही नहीं। हा, यह माना जा सकता है—सामाजिक प्राणीके लिए यह एक आवश्यक और अनिवार्य हिंसा है। अस्तु—आवश्यक हिंसा के विषयमे हम प्रथम प्रकरणमे ही पर्याप्त विवेचन कर चुके हैं कि वह धर्म नहीं। अत यहा पिष्टपेषणकी आवश्यकता नहीं।

कूप-निर्माणकी तरह हिंसासाध्य अन्यान्य सार्वजनिक कार्य्यो मे भी उनका यही दृष्टिकोण था। उन्होंने बताया—लोक-उपकार की दृष्टिसे इन्हे लोक-व्यवहार, लोक-कर्तव्य या समाज-धर्म भी यदि माना जाय तो कोई आपत्ति नहीं। पर जीवमात्रकी समानताका सिद्धान्त जहा अक्षुण्ण नहीं है, उन कार्योमे पार-लौकिक धर्म, आत्म-धर्म या मोक्ष-धर्म मैं नहीं मान सकता।'

इस विषयमे महात्मा गाधीका क्या दृष्टिकोण था, यह जाननेके लिए कोई स्वतन्त्र विवेचन उपलब्ध नहीं हो पाया है। तथापि उनकी इस विषय पर प्रकाश डालनेवाली स्फुट सामग्री पर्याप्तरूपसे मिल रही है।

जहा तक मैं सोचता हू, 'आवश्यक हिंसा' और 'गाधीजी एक समस्या' शीर्षक दो प्रकरणोमे धर्म और अहिंसा विषयक जो महात्माजीके विचार उद्धृत किये गये हैं, उनसे इस प्रसग पर पूरा-पूरा प्रकाश पड जाता है। वस्तुत. तो 'मोक्ष-धर्म और समाज-धर्म' नामक यह चालू प्रकरण उन प्रकरणोके अन्तर्गत ही आ जाता है तथापि अधिकाश जनता इसे एक मौलिक

समस्या मानती है अतः इसे एक स्वतन्त्र प्रकरण मानकर ही विवेचन करना आवश्यक समझागया है।

प्लेगके चूहोंकी हिंसा, कृपिकार्यमें होनेवाली हिंसा आवश्यक और अनिवार्य होते हुए भी जब गाधीवादके अनुसार हिंसा ही है, जैसा कि पहले बताया जा चुका है, तो किसी भी कार्यमें होनेवाली हिंसा गाधीवादके अनुसार अहिंसा नहीं हो सकती।

यह भी बताया जा चुका है कि पृथ्वी, जल आदि पदार्थोंमें भी वे जीवत्वका विश्वास करते थे। तब यह स्वतः सिद्ध है कि इस विषयमे आचार्य भिक्षु और महात्मा गांधी दो मत नहीं हो सकते क्योंकि अहिंसामे दोनोंकी समान निष्ठा है।

स्वामी भिक्षुने जैसे कहा था—सार्वजनिक कार्योंमे मानवका हित है पर प्राणीमात्रका नहीं। महात्मा गांधी भी अपने शब्दोंमे कहते है—"बन्दरको मार भगानेमे मै शुद्ध हिंसा ही देखता हूं यह हिंसा तीनों कालमे हिंसा ही गिनी जायगी। इसमे बन्दरके हित का विचार नहीं है किन्तु आश्रमके हितका विचार है।' और भी "किसान जो अनिवार्य जीवनाश करता है, उसे मैंने कभी अहिंसामे गिनाया ही नहीं है। यह वध अनिवार्य होकर क्षम्य भले ही हो पर अहिंसा तो निश्चय ही नहीं। किसानकी हिंसामे समाजका स्वार्थ छिपा हुआ है। अहिंसामे स्वार्थको स्थान नहीं" आदि।

कितना सुन्दर समन्वय है। इससे भी जब हम आगे बढ़ते है तो जैसे आचार्य भिक्षुने बताया—इन समाज-व्यवस्थाके कार्यों

मे अध्यात्म-धर्म न मानकर यदि समाज-धर्म (कर्तव्य) मानें तो कोई आपत्ति नहीं। गहराईमे जानेसे यही बात हमे गाधीवाद मे मिलती है महात्माजी के निम्नोक्त वाक्यों पर पाठक ध्यान दें। वे कहते हैं—

"बन्दरोंके मारनेमें जो हिंसा होती है, वह क्षम्य है। ऐसी हिंसा धर्म होती है।"

"मछली और मास खानेवालेको ये चीजें खाने देनेमें जो हिंसा होती है, उसे मै हिंसा नही मानता, मै उसे अपना धर्म समझता हू।"

"अहिंसाके नामपर फसलको उजडने देना मै तो पाप समझता हू।"

हर स्थितिमे हिंसाको हिंसा मानते हुए उपरोक्त कार्योंमे धर्म का प्रतिपादन करना इसी बातको सूचित करता है कि मानव-समाजकी दृष्टिसे ये कार्य आवश्यक है, कर्तव्य है। इसीलिए इन्हें धर्म कहा गया है। अत उनकी दृष्टिसे यह समाज-धर्म है, न कि वह मोक्ष-धर्म। यहा यह भी जान लेना आवश्यक है कि उनकी तत्त्वदृष्टिमे धर्मका ही दूसरा नाम अहिंसा है। अत यह स्वत सिद्ध है, हिंसा मानते हुए जहा कहीं उन्होंने धर्म होनेका विधान किया है, वह केवल सामाजिक कर्तव्यकी अपेक्षासे है।

इत्यादि बहुतसे प्रसंगोंके मननके बाद इस निर्णय पर पहुचा जा सकता है कि महात्माजीने धर्म शब्दका प्रयोग बहुत व्यापक अर्थमे किया है। उनका धर्म आध्यात्मिक उन्नति और भौतिक इन दोनोंका साधक है, उन्होंने विशुद्ध अहिंसा और आवश्यक-

हिंसा इन दोनोंको व्यापक धर्म-शब्दमे स्थान दिया है, पर तत्त्व-विवेचनामे उनका धर्म दो भागोंमे विभक्त हो जाता है—पहला आध्यात्मिक धर्म वा मोक्ष-धर्म, दूसरा समाज-धर्म। ऐसा मानने से ही "हिंसा तीन कालमे हिंसा ही रहेगी" उनकी यह श्रद्धा अविचल रह सकती है।

इस भेद-कल्पनाके विषयमे गाधीवादके अधिकारी ज्ञाताओ के भी बहुतसे समर्थन उपलब्ध होते है। अत उनकी ओर भी पाठकोंका ध्यान आकर्षित करना मैं आवश्यक समझता हूं। श्री हरिभाऊ उपाध्याय अपनी 'स्वतन्त्रताकी ओर' नामक पुस्तक मे लिखते हैं—

'भारतीय प्राचीन धर्म-ग्रन्थोमें धर्मके दो विभाग माने गये है—मोक्ष-धर्म और व्यवहार या ससार-धर्म। पारलौकिक, आध्यात्मिक या ईश्वर सम्बन्धी विभागको मोक्ष-धम और समाज-व्यवस्था, समाजोन्नति-सम्बन्धी सासारिक विभागको ससार-धर्म कहा गया है। लोग जो धर्मके नामसे चिढ उठते है, उनका कारण यह है कि मोक्ष-धर्म और खासकर उसकी ऊपरी बातो पर इतना जोर दिया गया कि जिससे अनेकाशमें ढोग रह गया और दूसरी ओर सामाजिक और राष्ट्रीय धर्मकी इतनी उपेक्षा की गई कि जिससे दोनो अगोमें समतोलता और सामञ्जस्य बिगड गया। व्यावहारिक अथवा सासारिक और आत्मिक या पारलौकिक जीवन मनुष्यका हरएक दूसरेसे इतना मिला हुआ है, इतना एक दूसरे पर अवलम्बित है कि किसी एककी उपेक्षा दूसरेका सत्यानाश है। मोक्ष-धर्म और उनके बाह्य अगोपर

जार देनेका परिणाम यह हुआ कि लोग प्रत्यक्ष जीवनसे घनिष्ट संबंध रखनेवाली बातोंसे उदासीन हो गये, पुरुषार्थी जीवन कारा भाग्यवादी बन गया। भारत आज अपने तमाम अच्छे संस्कारोंके होते हुए भी गुलाम बना हुआ है। इसी तरह अब केवल लौकिक, सामाजिक, व्यावहारिक या सांसारिक बातोंको ही महत्त्व देकर जीवनके अत्यन्त महत्त्वपूर्ण आत्मिक अंगकी उपेक्षा की तो इसका परिणाम और भी भयंकर होनेकी संभावना है।"

(स्वतन्त्रता की ओर पृष्ठ ११७, ११८)

मोक्ष-धर्म और समाज धर्मका कितना स्पष्ट विवेचन किया गया है। यहां यह नितान्त स्पष्ट हो जाता है कि समाज व्यवस्था और समाजोन्नति सम्बन्धी सांसारिक कार्य पारलौकिक उन्नतिके साधन नहीं हैं कूप, धर्मशाला, औषधालय, विद्यालय आदिके निर्माणमें जो आचार्य भिक्षुका दृष्टिकोण था, वही मानो दुहराया गया है। सामाजिक और धार्मिक जीवनके दोनों पलड़ोंके सन्तुलन और असन्तुलनके परिणामका विवेचन भी मनन करने योग्य है। आचार्य भिक्षुने जिस प्रकार दान, दया, सेवा, उपकार आदि अनेकों प्रसंगोंका आध्यात्मिक और लौकिक दो दृष्टिकोणोंसे प्रतिपादन किया था, श्री हरिभाऊ उपाध्याय ने भी उपरोक्त प्रसंगोंके अतिरिक्त और कई प्रसंगोंमें इन्हीं दो दृष्टिकोणों से विवेचन किया है। चालू प्रसंगको स्पष्ट करनेके लिए उनका भी कुछ विवरण दे देना आवश्यक है।

सुखका स्वरूप बतलाते हुए वे लिखते हैं।

"यदि हम मनुष्योसे पूछें कि तुम क्या चाहते हो, तुम्हारे जीवन का क्या उद्देश्य है, तो तरह तरहके उत्तर मिलेंगे। धन, वैभव, राज्य पुत्र-सन्तति, कीर्ति, मान-सम्मान, पद-प्रतिष्ठा, मुक्ति, ईश्वर-प्राप्ति, शान्ति, सुख, आनन्द, ज्ञान इनमेंसे कईएक लक्ष्य वे अपना बतायेंगे। मनुष्य ससारमें या जीवनमें जो कुछ करता है, वह इन्हींसे प्रेरित होकर करता है। विचार करनेसे वे सब लक्ष्य या उद्देश्य दो भागोंमें बट जाते है—शारीरिक, भौतिक, ऐहिक तथा मानसिक, पारमार्थिक या आध्यात्मिक। धनसे लेकर पद-प्रतिष्ठा तकके उद्देश्य भौतिक व मुक्तिसे लेकर ज्ञान तकके विषय आध्यात्मिक कोटिमें आते हैं। यदि मनुष्य जीवनके भिन्न भिन्न उद्देश्योके लिए किसी एक ही सर्वसामान्य शब्दका प्रयोग करना चाहे तो 'सुख' कह सकते है।"

(स्वतन्त्रताकी ओर पृष्ट २६४)

भौतिक और आध्यात्मिक सुखका कितना सुन्दर वर्गीकरण किया गया है। सुखके दो रूप मानते हुए भी दोनोंका समावेश जिसप्रकार यहा सुख शब्दकी व्यापकतामे कर दिया है, ठीक उसी तरह धर्मके भी लौकिक और पारलौकिक दो भेद मानते हुए दोनो भेदोंको व्यापक धर्म शब्दमे अन्तर्निहित कर लिया गया। यही कारण है कि धर्मकी परिभाषा वे इन शब्दोंमे करते हैं :—

"जिससे लोक, परलोक दोनो सधे, वह धर्म है।"

(स्वतन्त्रताकी ओर पृष्ठ २९३)

साथ-साथ स्पष्ट व्याख्या भी करते है:—

"इस व्याख्यामे धर्म-तत्त्व, धर्म-शास्त्र, नीति-नियम, 'स्वास्थ्य-

साधन, शिक्षा-विधान, राज तथा समाज-नियम सबका समावेश हो जाता है।"

(स्वतन्त्रताकी ओर पृष्ठ २९३)

यहा भी वास्तविक धर्म तत्त्वसे स्वास्थ्य, शिक्षा, समाज सम्बन्धी नियमोंको अलग कर दिया गया है। धर्म शब्दकी व्यापकताका विवेचन करते हुए और भी लिखते हैं :—

"एक धर्म वह जो परम सत्य तक पहुचनेका साधन है, जैसे— प्राणीमात्रके प्रति आत्मभाव रखना, सबको अपने जैसा समझना, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, सत्य, अपरिग्रह, अस्तेय आदिका पालन।"

"एक धर्म है, कर्तव्य—जैसे माता पिताकी सेवा करना पुत्रका धर्म है, पडोसीकी और दीन-दु खियोंकी सहायता करना या प्रतिज्ञा-पालन करना मनुष्यका धर्म है।"

(स्वतन्त्रताकी ओर पृष्ठ २९२)

आचाय भिक्षु और गाधीवादी श्रीहरिभाऊ उपाध्यायके विचार कितने एक दूसरेमे ओतप्रोत हो जाते हैं। दोनोके ही विचारोसे परम सत्यका साधक धर्म अहिंसा आदि तथ्य ही हैं, अतिरिक्त इनके माता-पिता और दीन-दु खियोकी सेवा तो कर्तव्य कहा जानेवाला धर्म है।

इस विषयमे सुमति-शिक्षा-सदन राणावासके मन्त्री श्री निभीमलजी सुराणा द्वारा एक लिखित विवरण मिला, जो इस प्रसग पर पूरा पूरा प्रकाश डालता है। अत पाठकोंकी जानकारी के लिए उसे हम उद्धृत कर रहे है —

"मेरे और सुमति-शिक्षा सदनके प्रधानाध्यापक श्रीदयालसिहजी गहलोतके बहुधा यह विवाद चला करता था कि कूप, वापीका निर्माण औषधालय, विद्यालय, सदाव्रतशाला आदि लोकोपकारी कार्य्योंका सपादन, समाजोन्नति और देशोन्नतिके और भी जो इस प्रकारके कार्य है, वे हमारी मुक्तिके साधन है या नही अर्थात् इनमें आध्यात्मि धर्म है या नही। उनका यह विश्वास था कि इन परोपकारोसे हमारी आत्मा कर्ममुक्त हो सकती है और मेरा विश्वास सर्वथा इसके प्रतिकूल था। इस विषयका निर्णय पानेके लिए हम वि० स० १९९७ में भाद्रवी अमावस्याको सेवाग्राम पूज्य महात्मा गाधीके पास पहुचे। वहा श्री महादेव भाई देसाईसे भेंट होने पर उन्होने बताया कि महात्माजी आज कार्य-व्यस्त है अत उनसे बातचीत न हो सकेगी। आप अपने आनेका प्रयोजन मुझे कहे। आनेका कारण बताते हुए मैंने कहा कि अच्छा हो आप ही हमारे विवादग्रस्त प्रश्नके विषयमें कुछ कहे। उनकी ओरसे सहर्ष अनुमति होनेके बाद मैंने पूर्वोक्त प्रश्नके साथ-साथ अपनी ओरसे उसकी पुष्टिके लिए जैन ज्ञातासूत्रमें वर्णित नन्दन मणियारेका वर्णन भी निम्नोक्त प्रकारसे उन्हे सुनाया—

राजगृह नगरमें नन्दन मणियारा नामक धनाढय श्रेष्टी था। भगवान् श्री महावीरके सपर्कमें आकर वह उनका उपासक बना और पोषध, उपवास आदि करता हुआ विरक्त जीवन बिताने लगा। एकबार समस्त आहार-पानीके परित्याग रूप तीन दिनकी तपस्या की। तीसरी रातमें वह क्षुधाक्लान्त और तृषातुर होकर सोचने लगा—मैं क्या करता हू ? धन्य तो वह पुरुष है, जो वापी, कूप आदि बनाते

है, दानशाला बनाते है और अगणित लोगोको सुख शान्ति प्रदान करते है अत प्रातःकालसे मै भी इन्ही कार्योमें प्रवृत्ति करूगा। तदनन्तर उसने एक सुरम्य 'नन्दा' पुष्करणी बनवाई। उसके चारो दिशाओमे चार बाग लगवाये। चारो बागोमे चार शालाए बनवाई। पूर्व दिशिके बागमें चित्रशाला (नाट्यशाला) थी, जहा सबसाधारणको मनोहर चित्र और नाट्य देखनेको मिलते थे। दक्षिण दिशिमें दान-शाला थी, जहा दीन अनाथ अपगोको मनोज्ञ भोजन दिया जाता था। पश्चिम दिशाम आरोग्यशाला थी। वहा कुशल वैद्य सबसाधारणको चिकित्सा करते थे। उत्तर दिशिमें अलङ्कारशाला थी, जहा सब-साधारणके लिए स्नान, तैल मर्दन, हजामत आदिकी व्यवस्था थी। [illegible] स्त्री-पुरुष रात-दिन वहा सुख शाति पाते थे।

भगवान् श्री महावीरके कथनानुसार नन्दनकी पहली पौषध उपवास आदिकी साधना आध्यात्मिक थी। दूसरी प्रवृत्तिसे आत्मोत्थान का कोई सम्बन्ध नही, पर केवल सासारिक प्रवृत्ति थी, मोक्ष-साधना मे यह किसीप्रकार साधक नही हो सकती। मेरा भी इसी मान्यतामें विश्वास है। अब आप अपनी सम्मति प्रगट करें।

मेरे द्वारा कह देनेके बाद दयालजीने अपना मन्तव्य सुनाया और उन्हें निर्णय देनेके लिए अनुरोध किया।

तत्पश्चात् श्रीमहादेव देसाईने इन शब्दोमे अपना मत प्रकट किया—

'भगवान् श्रीमहावीरकी वाणी अक्षरश सत्य है—लौकिक उप-कारोसे आत्मोत्थान कदापि सभव नहीं। लोगोको नैतिक सुस-

सुविधाए जुटा देनेसे आध्यात्मिक उन्नति नही हो सकती। किन्तु श्री महवीरके आदेशानुसार अपन जीवनको सयमी बनाना और दूसरो के जीवनकोभी सयमी बनानेका प्रयत्न करना ही आत्मोत्थानके पथपर अग्रसर होना है। नन्दन मणियारेने जो कार्य किया, वह सासारिक ही था, आध्यात्मिक नही। आध्यात्मिकतासे उसका सम्बन्ध ही क्या हो सकता है?"

पुन मैंने प्रश्न किया—पौद्गलिक (भौतिक) शान्तिसे आत्मोत्थान हो सकता है या नही?

उन्होने उत्तर दिया—"भौतिक शान्तिसे क्षणिक सुखानुभव हो सकता है किन्तु आत्मिक शान्ति नही। भौतिक शान्तिमे 'आत्म-धम' नही, व्यावहारिक धर्म है।"

इसप्रकार पूर्ण समाधान होनेके बाद सायकाल महात्माजीके दर्शन कर हम दोनो अपने गाव आये।"

जहा तक मैं सोचता हूं, गंभीर विचारकोंकी दृष्टिमे यह प्रश्न कोई अधिक महत्त्व नहीं रखता और न इतना विस्तृत विवेचन जितना कि किया गया है, आवश्यक है। क्योंकि बहुतसे अध्यात्म-तत्त्ववेत्ता यह मानते है कि अध्यात्मवादकी गहराईमे उतरने पर उपरोक्त सिद्धान्तका अनुसरण करना ही पड़ेगा। लोक-धर्म और मोक्ष-धर्मके बीच एक स्पष्ट भेद-रेखा खींचनी ही होगी। तथापि साधारण जनताके किसीप्रकारसे जो एकवार संस्कार पड जाते है, वे जल्दीसे बदलते नहीं। यही कारण है कि लाखों मनुष्योके हृदयमे मोक्ष-धर्म और समाज-धर्मका आज

उलझा हुआ प्रश्न है। इसी लोक-भावनाको ध्यानमें रखते हुए यहां विस्तृत विवेचनका आयाम किया गया है।

आचार्य भिक्षुके जीवन-कालमें यह एक प्रमुख विषय रहा है। नाना व्यक्तियोंके विरोधमें भी उन्होंने अपने मन्तव्यका किस तरह निर्भीक शब्दोंमें विवेचन किया, मैं सोचता हूं यह अधिक आकर्षक होगा कि यह विवेचन आप उन्हींके शब्दोंमें पढ़ें—

ज्ञान दर्शन चारित्र तप बिना,
ओर मुक्ति रा नहीं उपाय।
छोटा मोटा उपगार संसारना,
तेथी सिद्ध-गति किणविध पाय॥"

(अनुकम्पा चतुर्थ गीति १७ वीं गाथा)

भावार्थ—ज्ञान, तत्त्वश्रद्धा, चारित्र और तपके अतिरिक्त मुक्त होनेका उपाय दूसरा नहीं है। अन्य सारे झंझट संसारके हैं। उनसे सिद्धगति नहीं मिल सकती।

इसीप्रकार मुक्ति और संसारके मार्गकी पृथक्ता बतलाते हुए 'अनुकम्पा' ग्रन्थकी अष्टम गीतिमें लिखते हैं।

ए तो उपकार कियो इण भव रो,
विवेक-विकल त्या नै खबर न कायो ॥
घट मे ज्ञान घालिनै त्या नैपाप पचखावे,
पडतो राख्यो भव-कूवा मायो ।
भावे लाय बलतानै काढै ऋषीश्वर,
ते पिण गहिला भेद न पायो ॥"

भावर्थ—अग्निदाह दो प्रकारका होता है—एक द्रव्य अग्नि-दाह और दूसरा भाव-अग्नि-दाह । कूप भी दो प्रकारके होते है—एक द्रव्य-कूप, दूसरा भाव-कूप । अज्ञ पुरुष इस रहस्यको नहीं जानते—संसार और मुक्तिका मार्ग पृथक् पृथक् है ।

अग्निमे पडते हुए प्राणीको किसीने बचाया और किसीने कूपमे पडते हुए की रक्षा की यह लौकिक उपकार है ।

किसीने उपदेश द्वारा घटमे ज्ञान फैलाकर किसी व्यक्तिको हिंसा, असत्य, अब्रह्मचर्य आदिका त्याग करा दिया अर्थात् उसे पाप-कूपमे गिरनेसे बचा दिया अथवा किसी ऋषिने किसी व्यक्ति को जन्म-मरणके अग्नि दाहसे बचा लिया—यह पारलौकिक उपकार है । सर्व साधारण इस रहस्यको नहीं समझ सकते ।

यहा दृश्य-अग्नि और दृश्य-कूपको द्रव्यके विशेषणसे माना गया है और आत्मपतन व आत्मगुणोंके दहनको भाव-कूप एवं भाव-अग्नि माना गया हैं ।

उसी ग्रन्थकी ग्यारहवी गीतिमे उपकारकी द्विविधता बतलाते हुए कहते हैं—

"कोई दरिद्री जीव नैं धनवन्त करदे,
नव जात रा परिग्रह देई भरपूर।
वलि विविध प्रकारे साता उपजावें,
जाणक दारिद्र कर दियो दूर॥
ओ उपकार संसार रा जाणो।"

किसी निर्धन व्यक्तिको धन, धान्य आदिसे सम्पन्न कर दिया और सब प्रकारकी सुख-सामग्री जुटा कर उसे सुखी बना दिया। यह उपकार सांसारिक है।

किण रें तृष्णा लाय लागी घट भीतर,
ज्ञानादिक गुण बल त्यां माही।
उपदेश देई तिणरी लाय बुझावें,
समय-समय साता दीधी थपराई॥

दूसरा पक्ष यह है कि किसीके हृदयमें तृष्णाकी होली जल रही है। उपदेश सलिलसे किसीने वह शान्त कर दी। अब वह क्षण-क्षणमें सुखका अनुभव करता है। यह उपकार निश्चय ही मुक्तिका है। इसप्रकारके फल दोनों लोकोंके लिए मीठे हैं।

कोई मात पिता री सेवा करे दिन-रात
पछे मनगमता भोजन त्यांनें खवावें।
पछे कावड़ कांधे लिया फिरे त्यांनें,
वलि तिहुं टंक स्नान करावें।
ओ उपकार संसार तणो छै॥
कोई मात पिता नें समझा सूधी रीत,

भिन्न भिन्न कर नै धर्म सुणावै।
ज्ञान-दर्शन-चारित्र पमावै,
भोग शब्दादि सर्व छुडावै।
ओ तो उपकार निश्चय ही मुगत रो॥

भावार्थ—एक व्यक्ति माता-पिताकी दिनरात सेवा करता है। उन्हें मनोवाञ्छित भोजन कराता है, दोनों समय स्नान कराता है, और आवश्यकता होने पर उन्हें बहंगी (कावड) मे विठाकर कन्धे पर लिये फिरता है, यह सासारिक सेवा है।

कोई व्यक्ति माता-पिताको विविध प्रकारसे धर्म तत्त्व समझाता है। शव्द, गन्ध, रस आदिसे विरक्ति पैदा कर उनके हृदयमे ज्ञान, दर्शन, चारित्रकी लौ जलाता है, यह निश्चितरूप से मोक्षका साधन है।

उपरोक्त विवेचनसे कोई यह तत्त्व न निकाल ले कि आचार्य भिक्षुने लोकोपकारका निषेध किया है। उनकी तो यह तत्त्व-विवेचना है। वैसे तो सामाजिक प्राणीको लौकिक और पारलौकिक दोनों ही काम करने पडते है। यदि ऐसा न हो तो जैसे श्रीहरिभाऊ उपाध्यायने बताया—सामाजिक स्थिति व्यवस्थित नही रह सकती। दोनोंमेसे एककी भी सामूहिक उपेक्षा समाज-व्यवस्थाको अस्त-व्यस्त कर सकती है

आचार्य भिक्षुने उपकारकी तरह अन्यान्य बहुतसे विषयोंको भी आध्यात्मिक और व्यावहारिक दो दृष्टिकोणोंसे हल किया था। उनका इस समस्याको हल करनेवाला गुर इतनेसे शव्दोंमे कहा

जा सकता है—ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप आदि आत्मगुणोंका विकास करनेवाले कार्य आध्यात्मिक हैं—पारलौकिक हैं। शेष समाजोन्नति, समाज-व्यवस्थाके नियम व्यावहारिक हैं न कि पारमार्थिक।

इस विषय पर यदि ऐतिहासिक और सामाजिक दृष्टिकोण से सोचते हैं तो स्वतः भान होता है कि यह एक अपूर्ण समाज-व्यवस्थाका फल है कि समाजकी एक महत्त्वपूर्ण आवश्यकता धर्मके नामसे धन बटोरकर पूरी करनेका प्रयत्न किया जाता है। समाज-प्रणेताओंकी यह महती भूल थी, जब कि उन्होंने विभिन्न विधान बनाये ताकि समस्त सामाजिक प्राणी अपने विधानानुकूल जीयें, जीवनकी कितनीक समस्याओंके लिए पारिवारिक सम्बन्धोंकी रचना की, कितनेक कार्योंके लिए अलग अलग जातियाँ और पंचायतें बनाई गईं, कितनेक कार्य राजसत्ताके हस्तगत किये गये, किन्तु अनाथ, दीन, अपंगोंके लिए किसीको उत्तरदायी नहीं बनाया। इनकी जिम्मेदारी न किसी समाज पर थी, न राज्य पर। इसी तरह शिक्षाके सामूहिक विकासके लिए कोई महत्त्व-पूर्ण विधान-धारा नहीं थी। विधानकी अपूर्णता आगे चलकर सामाजिक जीवनमें जब बाधा उपस्थित करने लगी, तब तात्कालिक समाज-प्रणेताओंने दान-धर्मकी लम्बी-चौड़ी व्याख्या बना डाली। बेचारे धनी, मानो धनके सस्ते सौदेमें धर्मको खरीदने लगे। अपरोक्ष दोनों समस्यायें जैसे-तैसे सुलझ गईं।

आजका बुद्धिवादी मानव इस प्रकारकी समाज-व्यवस्था

को मानवताका एक अपमान समझता है, जिसमें मनुष्योंके सहज अधिकार धनियोंके करुणाभावमे अन्तर्निहित कर दिये गये है। इसकी दृष्टिमे समाज-प्रणेताओंकी यह भूल थी। अनेक युग बीते, अनेकों सदिया और सहस्राब्दिया बीतीं पर यह भूल ज्यों की त्यों चलती रही। इस युगमे जबकि इधर उस दानप्रथा का दुष्परिणाम भिखमंगी और अकर्मण्यताके रूपमे सामने आया, इधर जब समाज-व्यवस्थाके अन्यान्य सारे अंगोंके शिथिल हो जानेके कारण सारा समाजका कार्य-भार राजसत्ताने अपने हाथों मे लिया, तबसे इस भूलके सुधरनेका समय आया। इसीका परिणाम है कि बहुतसे राष्ट्रोमे आज भिक्षानिरोधक नियम बनते जा रहे है। शिक्षा, स्वास्थ्य आदिके विकासके लिए सर्वत्र राजकीय, विद्यालय, चिकित्सालय, बनते जा रहे है। संभवतः निकट भविष्यमे धनियोको वह दानधर्म धनके सौदेमे न मिले।

राष्ट्रीयकरणकी जिस दिशामे आज ससार बढ़ता नजर आ रहा है, रूस सबसे आगे है, जहा कोई दानजीवी नही, न कोई दानवीर। समाज-व्यवस्थाके पूर्ण नियम ही सामाजिक जीवन की सारी समस्याओंको हल करते है।

कूप, पाठशाला, चिकित्सालयके अतिरिक्त और आज बहुत सी सार्वजनिक आवश्यकताएँ है, जैसे सर्वत्र गावो और शहरोंके मार्गों पर बिजलीकी व्यवस्था, सडकोकी व्यवस्था आदि। यदि कूप आदि धर्मके अंग माने जाते है, इन सब कार्योंको भी जो राज-सत्ता द्वारा यथासंभव किये जा रहे है, धर्मका अंग समझना

होगा। समस्या होगी तो केवल यही कि इस धर्मका भागी कौन ?

तात्पर्य केवल इतना ही रह जाता है कि ये सब सामाजिक कार्य पूर्वकालमें बहुधा दानधर्मके आधार पर व्यष्टिरूपमें संपादित किये जाते थे और आज विशिष्ट करों द्वारा जनताका धन लेकर जनताके (राजसत्ताके) द्वारा समष्टिरूपसे किये जाते हैं। यह केवल व्यवस्था-भेद है। धर्मका अंग न ये कार्य आज हैं, न पहले होने चाहिए थे।

कई भारतीय धर्मों ने धर्मको व्यापक मानकर मनुष्यके जन्म से मृत्यु तकके सारे संस्कारोंको और भौतिक आवश्यकतापूर्तिको धर्मका ही रूप दे दिया था। पर आज-निर्माणकी वेलामें उसके फलित कटु ही नजर आते हैं। आजका बुद्धिवादी वर्ग जब-जब सामयिक सामाजिक परिवर्तनकी सोचता है, तब-तब दूसरा वर्ग उसे धर्ममें हस्तक्षेप समझता है और उसका विरोध करता है। इस तरह सामाजिकता और धार्मिकताको एक मानलेनेसे दोनों ही तत्त्व अपरिवर्तनशील बन गये। यही कारण है कि आज सामाजिक व्यवहारमें कितने अन्ध-विश्वास, कितनी रूढ़ियां भरी पड़ी हैं। उनका दूर होना दुःसाध्य हो रहा है क्योंकि वे धर्मके अंग हैं।

जनतन्त्रीय चिन्तनको हम इन शब्दोंमें दुहरा सकते हैं— राजनीतिसे जिस तरह धर्मको पृथक् किया गया है, इसी तरह सामाजिकतासे भी जब धर्म पृथक् माना जायगा, तभी सामा-

जिकता और धार्मिकता दोनों विशुद्ध और विकासोन्मुख होंगी।

मोक्ष-धर्म और समाज-धर्म सर्वसाधारणमे जिस प्रकार आत्म-धर्म ही माने जा रहे है, इसका प्रमुख कारण यही है कि प्राचीन विवेचकोंने धर्म-शब्दको अनेक अर्थोमे प्रयुक्त किया। धर्म-शब्द संस्कृतकी 'धृन् धारणे' धातुसे बना है, इसीलिए कहा जाता है 'धारणात् धर्म उच्यते।' अधिकांशतः कर्तव्यमात्रके लिए धर्म-शब्दका प्रयोग होता आ रहा है, चाहे वह कर्तव्य ऐहिक वा पारमार्थिक कुछ भी हो।

भगवान् महावीरने दश प्रकारके धर्म बतलाये :—

१ *ग्राम-धर्म*
२ *नगर-धर्म*
३ *राष्ट्र-धर्म*
४ *पाखण्ड-धर्म*
५ *कुल-धर्म*
६ *गण-धर्म*
७ *संघ-धर्म*
८ *श्रुत-धर्म*
९ *चारित्र-धर्म*
१० *अस्तिकाय-धर्म*

इस भेद-कल्पनासे स्वयमेव स्पष्ट होता है कि श्रुत-धर्म तथा चारित्र-धर्म तो मोक्ष-धर्म, शेष विभिन्न अपेक्षापरक।

सर्वसाधारणने सर्वप्रथम आत्म-सिद्धिके अर्थका द्योतक ही

स्यात् 'धर्म-शब्द' माना हो। पश्चात् जब मनीषियोंने विभिन्न अर्थोंमें धर्म-शब्दका प्रयोग किया, वह उनके हृदयङ्गम न हो सका हो। हो सकता है, इसीकारणसे सबसाधारणने धर्म-शब्द से अभिहित तत्त्वको मोक्ष-साधक ही माना।

मोक्ष-तत्त्व और समाज-तत्त्वकी एकात्मकतासे क्या-क्या बुराइयां उत्पन्न हुईं, इस विषयमें कुछ विवेचन पूर्ववर्ती पृष्ठोंमें किया जा चुका है। विचारकजन धर्म-शब्दकी व्यापकताको समझते हुए विभिन्न यथार्थताओंको हृदयङ्गम कर सकते हैं और तदनुकूल प्रवृत्त हो सकते हैं। किन्तु सर्वसाधारणसे ऐसा भरोसा नहीं किया जा सकता।

यथार्थमें धर्म-शब्दका व्यापक प्रयोग ही विभिन्न उलझनों और समस्याओंको उत्पन्न करनेवाला सिद्ध होता है। विचार-शील व्यक्तियोंने धर्म-शब्दका विविध प्रकारसे मन्थन किया है। गीताके असाधारण व्याख्याता लोकमान्य तिलकने इस विषयमें बड़ा सजीव विवेचन किया है। वे लिखते हैं —

जिकता और धार्मिकता दोनों विशुद्ध और विकासोन्मुख होंगी।

मोक्ष-धर्म और समाज-धर्म सर्वसाधारणमें जिस प्रकार आत्म-धर्म ही माने जा रहे है, इसका प्रमुख कारण यही है कि प्राचीन विवेचकोंने धर्म-शब्दको अनेक अर्थोंमे प्रयुक्त किया। धर्म-शब्द संस्कृतकी 'धृन् धारणे' धातुसे बना है, इसीलिए कहा जाता है 'धारणात् धर्म उच्यते।' अधिकाशतः कर्तव्यमात्रके लिए धर्म-शब्दका प्रयोग होता आ रहा है, चाहे वह कर्तव्य ऐहिक वा पारमार्थिक कुछ भी हो।

भगवान् महावीरने दश प्रकारके धर्म बतलाये :—

१ *ग्राम-धर्म*
२ *नगर-धर्म*
३ *राष्ट्र-धर्म*
४ *पाखण्ड-धर्म*
५ *कुल-धर्म*
६ *गण-धर्म*
७ *संघ-धर्म*
८ *श्रुत-धर्म*
९ *चारित्र-धर्म*
१० *अस्तिकाय-धर्म*

इस भेद-कल्पनासे स्वयमेव स्पष्ट होता है कि श्रुत-धर्म तथा चारित्र-धर्म तो मोक्ष-धर्म, शेष विभिन्न अपेक्षापरक।

सर्वसाधारणने सर्वप्रथम आत्म-सिद्धिके अर्थका द्योतक ही

स्यात् 'धर्म-शब्द' माना हो। पश्चात् जब मनीषियोंने विभिन्न अर्थोंमें धर्म-शब्दका प्रयोग किया वह उनके हृदयङ्गम न हो सका हो। हो सकता है, इसीकारणसे सबसाधारणने धर्म-शब्द से अभिहित तत्त्वको मोक्ष-साधक ही माना।

मोक्ष-तत्त्व और समाज-तत्त्वकी एकात्मकतासे क्या-क्या बुराइयां उत्पन्न हुईं, इस विषयमें कुछ विवेचन पूर्ववर्ती पृष्ठोंमें किया जा चुका है। विचारकजन धर्म-शब्दकी व्यापकताको समझते हुए विभिन्न यथार्थताओंको हृदयङ्गम कर सकते हैं और तदनुकूल प्रवृत्त हो सकते हैं। किन्तु सर्वसाधारणसे ऐसा भरोसा नहीं किया जा सकता।

यथार्थमें धर्म-शब्दका व्यापक प्रयोग ही विभिन्न उलझनों और समस्याओंको उत्पन्न करनेवाला सिद्ध होता है। विचार-शील व्यक्तियोंने धर्म-शब्दका विविध प्रकारसे मन्थन किया है। गीताके असाधारण व्याख्याता लोकमान्य तिलकने इस विषयमें बड़ा सजीव विवेचन किया है। वे लिखते हैं —

के लिए साधनभूत यज्ञ याग आदि वैदिक विषयोकी मीमासा करते "अथातो धर्म-जिज्ञासा" आदि धर्मसूत्रोमें भी धर्म-शब्दका यही अर्थ लिया गया है। परन्तु 'धर्म' शब्दका इतना ही सकुचित अर्थ नही है। इसके सिवा राज-धर्म, प्रजा-धर्म, देश धर्म, जाति-धर्म, कुल-धर्म, मित्र-धर्म इत्यादि सासारिक नीति-बन्धनोको भी 'धर्म' कहते है। धर्म-शब्दके इन दो अर्थो को यदि पृथक् करके दिखलाना हो तो पारलौकिक धर्मको 'मोक्ष-धर्म' अथवा सिर्फ 'मोक्ष' और व्यावहारिक धर्म अथवा केवल नीतिको केवल 'धर्म' कहा करते है। उदाहरणार्थ, चतुर्विधि पुरुपार्थो की गणना करते समय हमलोग "धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष" कहा करते है। इसके पहले शब्द धर्मंम ही यदि मोक्षका समावेश हो जाता तो अन्तमें मोक्षको पृथक् पुरुपार्थ वतलानेकी आवश्यकता न रहती, अर्थात् यह कहना पडता कि 'धर्म' पदसे इस स्थान पर ससारके सैकडो नीति-धर्म ही शास्त्रकारोको अभिप्रेत है। इन्हीको हमलोग आजकल कर्तव्य कर्म, नीति, नीति-धर्म अथवा सदाचरण कहते है। परन्तु प्राचीन सस्कृत ग्रन्थोमे 'नीति' अथवा 'नीतिशास्त्र' शब्दोका उपयोग विशेप करके राजनीति ही के लिए किया जाता है, इसलिए पुराने जमानेमें कर्तव्य कर्म अथवा सदाचारके विवेचनको 'नीति-प्रवचन' न कहकर 'धर्म-प्रवचन' कहा करते थे। परन्तु 'नीति' और 'धर्म' दो शव्दोका यह पारिभापिक भेद सभी सस्कृत-ग्रन्थोमें नही माना गया है। इसलिए हमने भी इस ग्रन्थमें 'नीति, कर्तव्य और धर्म' शव्दका उपयोग एक ही अर्थमें किया है, और मोक्ष का विचार जिस स्थान पर करना है, उस प्रकरणके 'अध्यात्म' और

चारो वर्णो मेसे कोई भी कर्तव्य छाड दे, अथवा यदि कोई वर्ण समूल नष्ट हो जाय और उसकी स्थान-पूर्ति दूसरे लोगोसे न की जाय तो कुल समाज उतना ही पगु होकर धीरे धीरे नष्ट भी होने लग जाता है अथवा वह निकृष्ट अवस्थामें तो अवश्य ही पहुच जाता है। यद्यपि यह बात सच है कि यूरोपमें ऐसे अनेक समाज है, जिनका अभ्युदय चातुर्वर्ण्य-व्यस्था चाहे न हो, परन्तु चारो वर्णो के सब धर्म, ज्ञाति रूपसे नही तो कुल-विभाग रूप ही से जागृत अवश्य रहते है। साराश, जब हम धर्म-शब्द का उपयोग व्यावहारिक दृष्टिसे करते है तब हम यही देखा करते है, कि सब समाजका धारण और पाषण कैसे होता है ? मनुने कहा है—'असुखोदक' अर्थात् जिसका परिणाम दुख- होता है, उस धर्मको छोड देना चाहिए (मनु० ४-१७६) और शान्ति-पर्वके सत्यानृताध्याय (शा० प० १०९-११२) में धर्म-अधर्मका विवेचन करते हुए भीष्म और उसके पूर्व कर्ण-पर्वमें भी श्री कृष्ण कहते है—

> धारणाद्धर्ममित्याहु, धर्मो धारयते प्रजा ।
> यत्स्याद्धारणसयुक्त, स धर्म इति निश्चय ॥

धर्म-शब्द धृ (=धारण करना) धातुसे बना है धर्मसे सब प्रजा बँधी हुई है। यह निश्चय किया गया है कि जिससे (सब प्रजाका) धारण होता है वही धर्म है। (म० भा० कर्ण पर्व ६९-५९)

यदि यह धर्म छूट जाय तो समझ लेना चाहिए कि समाजके सारे बधन भी टूट गये, और यदि समाजके बन्धन टूटे, तो आकर्पणशक्ति के विना आकाशमें सूर्यादि ग्रहमालाओकी जो दशा होती है, अथवा

आचार्य भिक्षु अपने विवेचनमे धर्म-शब्दका उपयोग मोक्ष-धर्मके अर्थमे ही किया करते थे। अन्य अर्थमे यदि धर्म-शब्दका व्यवहार करते तो उसके साथ पृथक्‌ताका द्योतक कोई सुस्पष्ट विशेषण जोड़ देते थे। महात्माजी बहुधा व्यापक अर्थमे धर्म-शब्दका प्रयोग करते थे। किन्तु दोनोंकी दृष्टिमे कोई अन्तर नहीं था। यह 'गांधीजी एक समस्या' व प्रस्तुत प्रकरणमे स्पष्ट किया जा चुका है।

अस्तु—आचार्य भिक्षु और महात्मा गांधीकी एतद्‌विषयक विचारधाराएँ लोकमान्य तिलककी विचार-सरणिका योग पाकर एक त्रिवेणी-संगम उपस्थित कर देती है।

आलोचना हुई। आलोचकोंने भिन्न - भिन्न प्रकारसे उसकी व्याख्यायें कीं।

घनश्यामदासजी बिड़लाने इस प्रसंग पर टिप्पणी करते हुए लिखा है—

"गांधीजी स्वयं जीवन्मुक्त दशामें, चाहे वह दशा क्षणिक—जब निर्णय किया जा रहा हो, उसी घडीके लिए ही क्यों न हो अहिंसात्मक हिंसा भी कर सके, जैसे बछडेकी हिंसा, पर साधारण मनुष्यके लिए वह कार्य कौएके लिए हंसकी चाल है।"

अपने इस निर्णयकी पुष्टि उन्होंने गीताके निम्नोक्त श्लोक से की है :—

"यस्य नाहंकृतो भावो, बुद्धिर्यस्य न लिप्यति।
हत्वापि स इमाल्लोकान्, न हन्ति न निबध्यते॥"

भावार्थ—जो निरहङ्कार है, जिसकी बुद्धि निर्लिप्त है, वह लोकोंकी हिंसा करके भी हिंसक नहीं होता और न वह कर्मबद्ध होता है।

काका कालेलकर इस समाधानको उचित नहीं बताते हुए लिखते हैं :—

"मेरा खयाल है, इस घटनाका सारा किस्सा दूसरी ही दृष्टिसे देखना चाहिए। जब बछडेकी हर तरहसे सेवा कर लेनेके बाद भी साफ दिखाई दिया कि वह बछडा बचनेवाला नहीं है और अब केवल मरणकी वेदनाका ही अनुभव कर रहा है, तब बापूजीने केवल शुद्ध दयाभावसे प्रेरित होकर उस बेचारेके दुखका अन्त करनेका निश्चय

आलोचना हुई। आलोचकोंने भिन्न - भिन्न प्रकारसे उसकी व्याख्यायें कीं।

घनश्यामदासजी बिड़लाने इस प्रसंग पर टिप्पणी करते हुए लिखा है—

"गाधीजी स्वय जीवन्मुक्त दशामें, चाहे वह दशा क्षणिक—जव निर्णय किया जा रहा हो, उसी घडीके लिए ही क्यो न हो अहिंसात्मक हिंसा भी कर सकें, जैसे बछडेकी हिंसा, पर साधारण मनुष्यके लिए वह कार्य कौएके लिए हसकी चाल है।"

अपने इस निर्णयकी पुष्टि उन्होंने गीताके निम्नोक्त श्लोक से की है :—

"यस्य नाहकृतो भावो, बद्धिर्यस्य न लिप्यति।
हत्वापि स इमाल्लोकान्, न हन्ति न निवध्यते॥"

भावार्थ—जो निरहङ्कार है, जिसकी बुद्धि निर्लिप्त है, वह लोकोंकी हिंसा करके भी हिंसक नहीं होता और न वह कर्मबद्ध होता है।

काका कालेलकर इस समाधानको उचित नहीं बताते हुए लिखते हैं :—

"मेरा खयाल है, इस घटनाका सारा किस्सा दूसरी ही दृष्टिसे देखना चाहिए। जब बछडेकी हर तरहसे सेवा कर लेनेके बाद भी साफ दिख ई दिया कि वह बछडा बचनेवाला नही है और अब केवल मरणकी वेदनाका ही अनुभव कर रहा है, तब बापूजीने केवल शुद्ध दयाभावसे प्रेरित होकर उस बेचारेके दु खका अन्त करनेका निश्चय

किया। उसकी वेदना चुपचाप देखते रहना भी क्रूर कर्म था। मैंने राय दी—बछड़ेको मरण देना ही चाहिए।

किसीको मारना एक चीज है, मरण देना दूसरी चीज है। प्यासेको हम पीने के लिए पानी देते हैं, भूखोंको अन्न देते है, डरे हुओंको आश्वासन देते हैं और बीमारोंको दवा देते हैं। इसी तरह जिसे अन्तिम वेदनाएँ होती है, उसको उसके हितके लिए हम शान्ति और मरण देते हैं। मरण देकर हम उसे दुःखसे बचा सकते हैं। किसी प्राणीका देहान्त होना कोई बड़ा अनिष्ट है, ऐसा हम क्यों मानें? जैसे जीनेके लिए हम मदद करते हैं, वैसे ही मरण पानेमें मदद हो सकती है।"

श्री महादेव भाई देसाईने बिड़लाजीके कथनको लक्ष्य कर कहा था :—

"इस पर मैं दो बातें कहना चाहता हूँ—बछड़ेकी हिंसा जीवन्मुक्त दशामें की गई हिंसाका उदाहरण है ही नहीं। थोड़े दिन पहले सेवाग्राममें एक पागल सियार आ गया था। उसे मारनेकी गांधीजीने आज्ञा दे दी थी और वे मारनेवाले कोई अनासक्त जीवन्मुक्त नहीं थे। वह आवश्यक और अनिवार्य हिंसा थी, जितनी कि कृषिकार्यमें कीटादि की हिंसा आवश्यक और अनिवार्य हो जाती है। हिंसाके भी कई प्रकार हैं। बछड़ेकी हिंसाका दूसरा प्रकार है। घुड़दौड़में जिस घोड़ेका पैर टूट जाता है या ऐसी चोट लग जाती है कि जिसका इलाज ही नहीं है, और पशुके लिए जीना एक यन्त्रणा होता है, उसे अंग्रेज लोग मार डालते हैं। वे प्रेमसे, अद्वेषसे मारते हैं। पर वे मारनेवाले

अनासक्त या जीवनन्मुक्त नही होते। जिस हिंसाको गीताने विहित कहा है, वह हिंसा अलौकिक पुरुष ही कर सकता है। गाधीजी अपने को जीवन्मुक्त नही मानते और न वे और किसीको भी सम्पूर्ण जीवन्मुक्त माननेके लिए तैयार थे। सम्पूर्ण जीवन्मुक्त ईश्वर ही है और यह गाधीजीकी दृढ भावना है कि "हत्वापि स इमाल्लोकान् न हन्ति न निवध्यते" वचन भी ईश्वरके लिए ही है।"

उपरोक्त सारी आलोचनाएं घटनाके अनन्तर ही हुई प्रतीत होती है। जिस समय महात्मा गाधी स्वयं विद्यमान थे, यह उनके जीवनकी पहली घटना थी। उससमय तक आलोचकोके सामने यह भी एक आशंका थी, सम्भवत. महात्मा गाधी सिद्धान्ततया जिस वातको एक बार कर चुके है, सिद्धान्तवादी होनेके कारण फिर भी अपने जीवनमे करते रहेगे। किन्तु आज जब कि महात्मा गाधीका जीवन-काल हमारे सामनेसे वीत चुका है, सम्भवतः वे ही आलोचक उस घटनाको एक दूसरे दृष्टिकोणसे देखे।

गाधीजी अपनी आत्मकथामे लिखते है :—

"मेरी शक्ति इसीमें है कि जनताको मै कोई ऐसी वात करनेको नहीं कहता, जिसे मै अपने जीवनमे वार-वार आजमा चुका न होऊ।"

वछडेकी घटनाके वाद उनके जीवनमे इसी तरहको और भी घटनाएं घटी हो, ऐसा कहीं पढने व सुननेमे नहीं आया। न कहीं इस प्रकारके वधके लिए उन्होंने कोई प्रचार किया। वहुत संभव था कि अपने इस प्रथम प्रयोगको यदि तत्त्वतः ठीक सम-

भते तो इस प्रकारका प्रचार करके अगणित प्राणियोंको मरणा-
सन्नकालकी वेदनासे मुक्त करनेमें उन्हें कोई भी शक्ति रोकनेवाली
नहीं थी और उनके जीवनमें भी ऐसी घटनाएं अनेक वार घटित
होतीं। इस प्रकार सोचते हुए हम सहज ही इस निर्णय पर
पहुंच जाते हैं—बछड़ेकी घटना उनके जीवनकी एक भूल थी और
वह दूसरी वार नहीं दुहराई गई।

जीवन्मुक्त दशा वताकर किया गया समाधान केवल श्रद्धा-
भरा निर्णय कहा जा सकता है। वस्तुस्थितिका दिग्दर्शन श्री
महादेव देसाईके शब्दोंमें ही हो जाता है, जो हरएक तर्कशील
व्यक्तिके लिए मान्य हो सकता है।

भगवान् महावीरसे एकवार पूछा गया—एक अहिंसक साधु
के पैरोंके नीचे आकर यदि कोई जीव कुचल जायं तो उसका
क्या फल होगा? श्री महावीरने उत्तर दिया—यदि वह बताये
प्रकारसे पूर्ण अहिंसक है, चलनेकी क्रियामें किसी प्रकारकी त्रुटि
नहीं कर रहा है अर्थात विधिवत् चल रहा है तो उसके उस हिंसा
से पाप वध नहीं होगा। वह द्रव्य-हिंसा है, भाव-हिंसा नहीं,
वह साधु हिंसक नहीं अहिंसक ही है।

एक प्रसंगमें यह भी वताया कि यदि कोई साधु अविधिसे चल रहा
है, उसके द्वारा कोई हिंसा न भी हुई, तो भी वह अपनी प्रवृत्तिसे
हिंसक हो ही चुका, अत वह हिंसाके पापका भागी अवश्य होगा।

"यस्य नाहंकृतो भावो, बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाल्लोकान, न हन्ति न निवध्यते॥"

जिसके अहंकार नहीं है, जिसकी बुद्धि लिप्त नहीं है, वह हिंसा करता हुआ भी न हिंसक होता है, न कर्मलिप्त होता है।

वस्तुत योगयुक्तता, जितेन्द्रियता, सर्वभूतात्मभूतात्मकता आदि गुणो तक पहुचजानेवाले व्यक्तिके लिए हिंसा करनेका तो कोई प्रश्न ही नहीं रह जाता। 'यह कथन केवल ईश्वरके लिए ही है' यह कहना भी कोई अर्थ नहीं रखता। अतः यह प्रतिपादन इस दशा तक पहुच जानेवाले प्राणियो (ऋषि-महर्षियो) के लिए ही होना संभव है। ऐसी स्थितिमे इसी निष्कर्ष पर पहुचना पडता है कि देहधारी होनेके कारण इस दशा तक पहुचने वाले व्यक्तियो द्वारा भी मन स्थिरता होते हुए कायिक चंचलता के कारण अनिच्छित हिंसा हो ही जाती है। वह हिंसा उनके पापका कारण नहीं है। अत जिसप्रकार भगवान् श्री महावीर के कथनकी जैन-मनीपियोने जो व्याख्या की है, वह गीताके उक्त प्रसगोके लिए भी उचित प्रतीत होती है।

अस्तु—बछडेकी घटनाको तो गीताके कथनसे कोई समर्थन मिल ही नहीं सकता।

भूखेको अन्न, प्यासेको जल उसकी इच्छानुसार दिया जाता है, यह उदाहरण मरण देनेमे घटित नहीं हो सकता। यह कोई निर्णीत तत्त्व नहीं कि मरणासन्न व्यक्ति मृत्युकी ही कामना करता हो। व्यावहारिक प्रसंग तो हमें बताते है कि प्राय मरणोन्मुख व्यक्ति भी यही हाय-तोवा करते रहते हैं कि अमुक डाक्टरको लाओ, अमुक औपध मुझे दो, किसी प्रकार मैं स्वस्थ बनू।

सैद्धान्तिक निर्णय कर लेनेके बाद ऐसी कोई भी भेद-रेखा नहीं खींची जा सकती, जो वह सिद्धान्त केवल गाधीजी या किसी पुरुष-विशेषके लिए ही उपादेय हो।

महात्मा गाधी एक करुणाशील व्यक्ति थे। उनका हृदय मोमकी तरह कोमल था। वे किसी प्राणीके दुःखको देखकर तिलमिला उठते थे। ऐसा उनके जीवनके अनेक प्रसगोसे मालूम होता है। बहुत कुछ संभव प्रतीत होता है कि बछड़ेके विषयमे उनके करुणार्द्र हृदयका एक तात्कालिक और आकस्मिक निर्णय हो, जो उनके जीवनमे फिर नहीं दुहराया गया।

भगवान् श्रीमहावीरके जीवनमे भी ऐसा एक प्रसग आया था। जबकि 'तेजो-लेश्या' (एक यौगिक शक्ति) को काममे लेना प्रत्येक सन्यस्त साधुके लिए विवर्जित है, भगवान् महावीर ने उसे काममे लिया।

भगवान् महावीरके गोशालक नामक एक शिष्य था। एक बार वह किसी अन्य तपस्वीसे छेड़छाड करने लगा। उस तपस्वीने गोशालकको मारनेके लिए 'उष्ण-तेजो-लेश्या' छोड दी। महावीरने और कोई उपाय न देख 'शीतल -तेजो-लेश्या'का प्रयोग कर गोशालककी रक्षा की। यह उनके असर्वज्ञ साधु-जीवनकी घटना थी। कैवल्यप्राप्तिके बाद जब ऐसा दूसरा प्रसंग उनके सामने आया, तब दो साधु उनके सामने उसी यौगिक शक्तिसे भस्म कर दिए गये। उस अवसर पर भगवान् महावीरने प्रति-पक्षी यौगिक शक्तिको काममे न लिया। इस प्रकार यह स्पष्ट

हो जाता है कि यौगिक शक्तिको काममें लेना उनके असंयत जीवनकी भूल थी और वह जीवनपर्यन्त फिर दुहराई नहीं गई।

भगवान महावीरके श्रद्धाविभोर आलोचक यह माननेको तैयार नहीं कि उन्होंने (भगवान महावीरने) अपने जीवनमें यह भूल की थी। वे भी उन्हें जीवन्मुक्तकी तरह 'कल्पातीत' (नियमातीत) बताकर दोषमुक्त करते हैं। पर तर्ककी कसौटी पर वह समाधान सही नहीं उतरता।

किसी विशिष्ट व्यक्तिकी इस प्रकारकी घटनाको भूल मान लेने से उसका गौरव नष्ट नहीं जाता। भूल होना मानवका एक सहज स्वभाव है। यदि इसप्रकारकी एक भी भूलको अपने श्रद्धापूर्ण मानससे येनकेनप्रकारेण हम उपादेय सिद्ध कर देते हैं तो वस्तुतः अनगिन भूलोंके लिए एक बड़ा द्वार खोल देते हैं।

इस विषयमें आचार्य भिक्षुका दृष्टिकोण भी मनन करने योग्य है। वे कहते हैं,—

"जीव जीवे ते दया नहीं,
मरे ते तो हिंसा मत जाण।
मारणवाला ने हिंसा कही,
नहीं मारे ते तो दयागुणखाण॥"

भावार्थ—इस सुविस्तृत संसारमें अनन्त जीव अपने आयुष्य-बलसे जी रहे हैं। उनके लिए कोई दयावान् होनेका दावा नहीं कर सकता, क्योंकि वे तो स्वतः जीवित हैं। इसीप्रकार अपने आयुष्यबलके क्षीण होनेसे जो स्वतः मर रहे हैं, उनके लिए कोई

हिंसक नहीं कहा जा सकता। हिंसक तो मारनेवाला है। मन, वचन, कायासे हिंसामें योग नहीं देनेवाला सदा अहिंसक ही है।

जैसा कि काका कालेलकरने लिखा है—"उस घटनाको चुप-चाप देखते रहना भी क्रूर कर्म था' उपरोक्त दृष्टिकोणसे कुछ माने नहीं रखता। यदि देखनेवाले उसकी मरण क्रियासे सर्वथा निरपेक्ष थे तो कोई कारण नहीं कि बछड़ेका मरना उन्हें हिंसक बना देता।

यदि यह भी मान लिया जाय कि महात्माजीका यह कार्य उनके सिद्धान्तोंके अनुकूल ही था तो भी आचार्य भिक्षुके विचार तो उनके इस सिद्धान्तके साथ किसी प्रकार मेल नहीं खा सकते।

पावकम्म न बंधई" "पहिया सव्वस्स दन्तस्स पावकम्मं न बंधई" आदि वाक्य षष्ठ गुणस्थानवर्ती पूर्ण संयतोके लिए ही कहे गये है जानबूझकर मरण देनेका तो वहा कोई सम्बन्ध ही नहीं है।

अस्तु—ता० ३-२-२८ को उनका लिखा एक लेख यहा उद्धृत किया जाता है, जिसमे पाठकोंको महात्माजीके शब्दोंमे वछडेकी घटना व तद्विषयक उनके मन्तव्य पढनेको मिलेंगे। 'वछडेका प्रसंग (१)' पूर्व उपलब्ध सामग्रीके आधार पर लिखा गया था अत उसमे महात्माजीके विचारोंका विश्लेषण नहीं किया जा सका। किन्तु अब एतद्विषयक बहुत सी सामग्रीके सामने आ जानेके पश्चात् भी लेखककी दृष्टि उस विषयमे ज्योंकी त्यों ही है। लेखको उद्धृत करनेका तात्पर्य तद्विषयक सारे समाधानोंको पाठकोंके सामने ला देनेका है।

"सत्याग्रहाश्रम गोसेवासंघनी वती आदर्श दुग्धालय चर्मालयना प्रयोगो करी रहेल छे तेने अंगे क्षणे क्षणे धर्मसंकटो पेदा थाय छे जो आश्रमनो आदर्श केवल अहिंसाने ज मार्गे सत्यनी शोधनो न होत तो एवा संकटो उत्पन्न न थात।

केटलाक दिवस पूर्वे आश्रमनो एक अपंग थई गयेलो वाछडो रिबातो[1] हतो तेनी दवा करी, पशुना डाक्तरनी सलाह लीधी तेमणे एना जीववानी आशा छोडी एमे पण जोई शक्या के ते रिबाय छे तेने पडखु फेरवावतांये दुःख थाय.

---

१ पीडासे कराहता।

मने लाग्युके आवी स्थितिमा आ वाछडानो प्राण लेवो अे धर्म छे, अहिंसा छे में साथीओनी साथे मसलत[1] करी. तेमनामाना घणाअे मारा अभिप्रायने टेको[2] आप्यो पछी आखा आश्रमना लोकोनी पासे वात करी. तेमा अेक भाईअे खूब दलील थी सखत विरोध कर्यो, पोते सेवा करवानु माथे लीधु, ने तेना प्राणहरण कर्या त्या लगी तेणे अने केटलीक बहेनोअे तेनी उपरथी माखीओ उडाडवानु काम कर्यु

मजकूर भाईनी दलील अे हतीके, जेने प्राण आपवानी शक्ति नथी ते प्राण हरण न करे, मने आ दलील आ प्रसगे अस्थाने लागी, ज्या स्वार्थ-भावनाथी कोई बीजानो प्राण हरण करे त्या तेवी दलीलने स्थान होय, छेवटे दीनभावे पण दृढतापूर्वक पासे ऊभा रहीने दाक्तरनी मारफते झेरनी पिचकारी देवडावी वाछडाना प्राण हरण कर्या प्राण जता बे मिनिट थी ओछो वखत गयो हशे.

हु जाणतो हतो के आ काम चालु लोकमतने पसद न पडे, अेमा चालु लोकमत हिंसा ज जोशे. पण धर्म लोकमतनो विचार न करे, ज्या हु धर्म जोउ त्या बीजा अधर्म जुअे, तो पण मारे तो मने सूझेलो धर्म ज आचरवो जोईअे अेम हु शील्यो छु, अने अे ज बरोबर छे अेम मारो आगल अनुभवे सिद्ध करयुं छे. वास्तविक रीते में मानेलो धर्म अधर्म होई शके, पण केटलीक वार अणजाण भूल कर्या विना अधर्मनी खबर पड़ती नथी. लोकमतने वश थई के बीजा कोई भयने वश थई हु जेने धर्म मानु ते न आचरू तो धर्माधर्मनो निर्णय हु कोई दहाडो

१—परामर्श २—समर्थन

करवा न पामु, ने छेवटे हु धर्महीन थई जाऊ आवा ज कारण थी प्रीत में गायु छे के ।

"प्रेम पंथ पावक नी ज्वाला भाली पाछा भागे जोने"

अहिंसा धर्म नो पथ अे प्रेमपथ छे ते पथे माणसने घणी वेला अेकाकी विचरवु पडे छे

जेवु वाछडाने विषे हु इच्छु ? तेवु मनुष्यने विषे करवा हु तैयार थाउ ? आ प्रश्नमें मननी साथे ने मित्रोनी साथे चर्च्यो, मने लाग्युके बन्नेने अेक ज न्याय लागु पडे, 'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे' अे महा वाक्य अही लागु न पडे तो वाछडाने न हणाय, अेम मने स्पष्ट लाग्यु येवा दृष्टान्तो कल्पी शकायके ज्यारे हणवामा अहिसा अने न हणवामा हिंसा होय मारी दीकरी' ज अभिप्राय आपवा योग्य नथी, तेनी उपर आक्रमण करनार कोई चडी आवे, अने तेने जीतवानो बीजो मार्ग न ज मळे, तो हु दीकरीना प्राण लउ, अने आक्रमण करनारनी तलवार ने वश न थाउ तेमा हु शुद्ध अहिंसा जोउ दरदथी पीडाता प्रिय जनोने आराम [illegible], तेमके आपणी पासे तेमनी सेवा करवाना साधना [illegible] पण सेवा शक्य न होय, जीववानी आशा [illegible], ने बेशुद्ध होय अने महादुःख भोगवता होय, तो तेमना प्राणहरणमा हु लेशमात्र पण दोष न जोउ

पालन होई शके वाढकापमा मनुष्य साजो[1] थवानो सभव छे, प्राण-हरणमा तो प्राण ज जाय छे, अेवी दलील करवामा आवी छे. पण विचार करता जणाशे के बन्नेमा साध्य वस्तु अेक ज छे प्राण हरीने अने वाढकाप करीने शरीरमा रहेला आत्माने दु खमुक्त करवानी धारणा सामान्य छे. शरीरनी वाढकाप करीने सुख शरीरने नहि पण आत्मा ने आपवानु छे आत्मारहित शरीरमा सुखदु ख भोगववानी शक्ति ज नथी,

मृत्यु दडनो जे डर अत्यारे समाजमा जोवामा आवे छे, ते अहिंसा-धर्मना प्रचारमा भारे बाधा करनारी वस्तु छे कोई ने गाल देवी, तेनु बूरू इच्छवु, तेने ताडन करवु, तेने रिबाववु, अे बधु हिंसा ज छे अने केटलीक वेला रिबाववु अे मृत्युदडना करता अतिशय घोर हिंसा होई शके. जे मनुष्य पोताने स्वार्थना सारु बीजाने रिबावे छे, तेना नाक-कान कापे[2] छे, तेनी पूरी गूकी खावानु नथी आपतो न बीजी रीते तेनु अपमान करे छे, ते मृत्युदड देनार करता बहु वधारे निर्दयता वापरे छे. जेमणे अमृतसरनी गलीमा लोको ने कीडानी जेम पेटे चलाव्या, तेमणे जो तेमने मारी नाख्या होत तो ते ओछा घातकी गणात. पेटे चालनार ना आज जीवे छ अेम कही, कोई पेटे चलाव-वानी शिक्षा ने मृत्युदडना करता हलकी गाने तो ते अहिंसा ने नथी जाणता, अेम कहेता मने जराये सकोच नथी यतो अेवा अनेक प्रसगो छे के ज्यारे माणसे तेमने वटावी[3] मोतने वधाववु घटे. जे ओ आ धर्म न समजे ते अहिंसाना मूल तत्वने नथी जाणता.

१—स्वस्थ २—काटता है ३—बदले

हिंसा थति जोई रह्यो छु आपणी पाजरापोलो अने गोशालाओ हिंसाना स्थान थई पड्या छे स्वाथर्था अध थई आपणे रोज आपणा पशुओ उपर अत्याचार करीअे छाअे, तेमने रिबावींअ छीअे तेमने वाचा होय ता तेओ आपणने अवश्य कहे 'अमने आम' रिबावो छो तेना करता अमने मारी नाखो तो तमारो पाड मानीअे ' तेमनी आखामा आवी मागणी मे तो अनेक वार वाचा छे

आ उपरथी अेम कही शकायके स्वार्थने वश थईनेके क्रोधमा कोई पण जीवने दीधेलु दु ख के ते तेनु इच्छेलु अनिष्टके प्राणहरण ते हिंसा- नि स्वार्थ बुद्धि थी, शात चित्त थी कोई पण जीवना भौतिकके आध्या- त्मिक भलाने सारु तेने दीधेलु दु खके तेनु प्राणहरण क्यारे अहिंसा कहेवाय ते प्रत्येक दृष्टात विचारीने ज कही शकाय छेवटमा[2] अहिंसानी परीक्षा भावना उपर आधार राखे छे

(अहिंसा पृष्ठ १२३—१२८)

उक्त विवेचनमे महात्माजीने कुछ एक उदाहरणोंसे अपने अभिमत तत्त्वकी पुष्टिकी है। हमे यहा यह देखना होगा, वे उदाहरण वछड़ेकी हत्याके साथ कहा तक मेल खाते है।

पुत्री प्राण-हरणका उदाहरण स्वयं सन्दिग्ध है। अभिप्राय व्यक्त करनेमे असमर्थ वालिकाके प्राण लेना स्वयं एक वछड़ेका सा ही प्रसंग हो जाता है। गाधीजी उस प्राण-हरणको अहिंसा मान सकते है, किन्तु आचार्य भिक्षुके विचार यहा उतने ही टकराते

१—इस प्रकार २—अन्तमे

है, जितने बछड़ेके प्रसंगमें। जहां व्यक्तिकी इच्छा ही अव्यक्त है, यह भी नहीं जानागया कि वह स्वयं मरना चाहती है या अत्याचारीके वश होना, वह मरण-दान अहिंसा कैसे ?

जैनोंमें आमरण-अनशनकी प्रथा है। अनशन सहित मृत्यु का बड़ा महत्त्व समझा जाता है। बेहोश स्थितिमें कराया गया अनशन अवध है, चाहे वह रुग्ण कितनी ही ज्वलन्त धार्मिक भावनावाला हो, चाहे वह अचेतनावस्थासे पूर्व अनशन दिलाने के लिए आग्रह ही क्यों न करता रहा हो। क्योंकि परिणामोंकी दशा क्षणमात्रमें बदल सकती है। वहां विचारोंकी वर्तमान स्थिति अज्ञात है।

जब रोगी सन्दिग्ध स्थितिमें होता है, पर पता नहीं चलता कि इसकी अन्तश्चेतना जागृत है या मूर्च्छित, तब उसे इस वादे पर अनशन कराया जाता है कि यदि तुम्हारी अनशन लेनेकी भावना है और तुम्हारी अन्तर-अनुभूति जीवित है तो तुम्हारे लिए आमरण अनशन है। जाननेकी बात यह है, यदि वह रोगी होशमें आकर अनशन-स्वीकृतिका परिचय न दे तो अनशन लेना यह घोषित नहीं करते कि अमुकने आमरण अनशन लिया है। पर बछड़ेके विषयमें या इस स्थितिमें पहुंचे अन्य किसी प्राणीके विषयमें हम निर्णय करनेका क्या अधिकार रखते हैं कि वह मरना चाहता है या चाहता था।

आत्मघातके मरण-दानके विषयमें हमें और भी एक दृष्टि-कोणसे सोचना चाहिए। जीवनके शारीरिक और मानसिक

कष्टोंसे घबराकर मृत्युकी कामना करना महापाप है– यह आचार्य भिक्षु भी मानते थे और स्यात् महात्मा गांधी भी। आचार्य भिक्षुके विचारोंसे मरनेके लिए कोई अनशन नहीं ले सकता और अनशनमे भी शीघ्र मरनेकी कामना नहीं कर सकता। महात्माजीने तो अभयको व्रतोंमे स्वतन्त्र स्थान ही दिया है। हिंसा, असत्य आदिकी तरह भयको भी उन्होंने एक पाप माना है। अब सोचना यह है, कुछ क्षणके लिए यह मान ही लिया जाय—बछड़ा मरना ही चाहता था, तो यह सोचना होगा कि क्या वेदनासे घबड़ाकर मृत्युकी कामना करना कायरता और पाप नहीं है? उस स्थितिमे उसे मृत्युकी ओर ही ढकेलना क्या उसकी कायर भावनाओंको योग-दान करना नहीं है?

बछड़ा अज्ञानी है। पर महात्माजी मनुष्यके लिए भी वही नियम लागू करते हैं। तभी 'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे' का नियम चरितार्थ होता है। मनुष्य वेदनासे घबड़ाकर मरणकी कामना करे और अहिंसक उसे मृत्यु दण्ड दे, ये दोनों ही बातें चिन्तनीय हैं।

यदि कहा जाय—कोई बहिन जिस पर अत्याचार हो रहा है, स्वयं आत्म-हत्या करले तो वह अहिंसा ही है, धर्म ही है। ऐसा आचार्य भिक्षु भी कहते हैं और महात्मा गांधी भी। वहां क्या कष्टोंसे घबराकर मरनेकी कामना नहीं है? नहीं, सती महिला के हृदयमें मरनेकी कामना नहीं होती, उसका मानस सतीत्व रक्षाको ही सोचता है। दूसरी बात—वहां भयका सर्वथा

अभाव है। वह शारीरिक या मानसिक कष्टोंसे घबराकर मृत्यु की ओर नहीं जा रही है, वहा तो असीम आत्म-बलका परिचय है। यदि कहा जाय—यह भी एक प्रकारका भय है, तो यह वही आत्म-पतनका भय है, जो किसी भी विवेकशील व्यक्तिको हिंसा करनेमें, असत्य बोलनेमें, व्यभिचारके मार्गमें जानेमें होता है। वह सोचती है मेरा सतीत्व नष्ट न हो। यह असतीत्व का भय है, जो किसी भी दृष्टिसे हेय नहीं कहा जा सकता। शारीरिक कष्टोंसे ऊबकर मरनेकी सोचना दूसरी बात है। यही दृष्टि आमरण अनशन करनेमें है। यदि कोई कष्टोंसे ऊबकर मरनेके लिए अनशन करता है तो वह अनशन ही नहीं है। जिसका जीवनसे मोह छूट जाता है और मृत्युकी अभिलाषा जिसे प्रेरणा देती है, राग-द्वेष रहित माध्यस्थ्य वृत्तिसे त्यागकी कामना करनेवाला मनुष्य ही अनशनका अधिकारी है। अस्तु।

कष्टोंसे घबराकर मृत्युकी कामना करना महापाप है– यह आचार्य भिक्षु भी मानते थे और स्यात् महात्मा गाधी भी। आचार्य भिक्षुके विचारोंसे मरनेके लिए कोई अनशन नहीं ले सकता और अनशनमे भी शीघ्र मरनेकी कामना नहीं कर सकता। महात्माजीने तो अभयको व्रतोंमे स्वतन्त्र स्थान ही दिया है। हिंसा, असत्य आदिकी तरह भयको भी उन्होंने एक पाप माना है। अब सोचना यह है, कुछ क्षणके लिए यह मान ही लिया जाय—बछडा मरना ही चाहता था, तो यह सोचना होगा कि क्या वेदनासे घबडाकर मृत्युकी कामना करना कायरता और पाप नहीं है? उस स्थितिमे उसे मृत्युकी ओर ही ढकेलना क्या उसकी कायर भावनाओंको योग-दान करना नहीं है ?

बछडा अज्ञानी है। पर महात्माजी मनुष्यके लिए भी वही नियम लागू करते है। तभी 'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे' का नियम चरितार्थ होता है। मनुष्य वेदनासे घबडाकर मरणकी कामना करे और अहिंसक उसे मृत्यु दण्ड दे, ये दोनों ही बातें चिन्तनीय है।

यदि कहा जाय—कोई बहिन जिस पर अत्याचार हो रहा है, स्वयं आत्म-हत्या करले तो वह अहिंसा ही है, धर्म ही है। ऐसा आचार्य भिक्षु भी कहते है और महात्मा गाधी भी। वहा क्या कष्टोंसे घबराकर मरनेकी कामना नहीं है ? नहीं, सती महिला के हृदयमे मरनेकी कामना नहीं होती, उसका मानस सतीत्व रक्षाका मार्ग खोजता है। दूसरी बात—वहा भयका सर्वथा

अभाव है। वह शारीरिक या मानसिक कष्टोंसे घबराकर मृत्यु की ओर नहीं जा रही है, वहा तो असीम आत्म-बलका परिचय है। यदि कहा जाय—यह भी एक प्रकारका भय है, तो यह वही आत्म-पतनका भय है, जो किसी भी विवेकशील व्यक्तिको हिंसा करनेमे, असत्य बोलनेमे, व्यभिचारके मार्गमे जानेमे होता है। वह सोचती है—मेरा सतीत्व नष्ट न हो। यह असतीत्व का भय है, जो किसी भी दृष्टिसे हेय नहीं कहा जा सकता। शारीरिक कष्टोंसे ऊबकर मरनेकी सोचना दूसरी बात है। यही दृष्टि आमरण अनशन करनेमे है। यदि कोई कष्टोंसे ऊबकर मरनेके लिए अनशन करता है तो वह अनशन ही नहीं है। जिसका जीवनसे मोह छूट जाता है और मृत्युकी अभिलाषा जिसे प्रेरणा देती है, राग-द्वेष रहित माध्यस्थ्य वृत्तिसे त्यागकी कामना करनेवाला मनुष्य ही अनशनका अधिकारी है। अस्तु।

गाधीजी लिखते है—डाक्टर रोगीको दु खमुक्त करनेके लिए चीरफाड करता है, इसलिए वह हिंसा नहीं करता। पर कर्म-सिद्धान्तमे विश्वास रखनेवाला व्यक्ति यह कैसे माने कि हम किसी बछडेको वा अन्य प्राणीको मरण देकर दु खमुक्त करते है। यदि वह उससे भी दु:खद योनिमे उत्पन्न होनेवाला है तो मरण देने वाला दु खसे महादु खमे ढकेल देता है, यह मान लेना ही होगा।

हिंसाका सम्बन्ध भावनासे ही है, यह निष्कर्ष भी निर्विवाद नहीं है। इतना तो अवश्य निर्विवाद है कि हिंसाका सम्बन्ध भावनासे भी है अर्थात् 'ही' सन्दिग्ध है और 'भी' असन्दिग्ध

है। यदि 'ही' को मानकर ही चला जाय तो पाप और अधर्मका कोई अस्तित्व ही नहीं रह जायगा। कसाई और चोर जैसे अधम प्राणी भी यह कहकर कि हमारी भावना हिंसाकी नहीं है, मूक पशुओंसे और धनी-मानी सेठोंसे हमारा कोई द्रोह नहीं है, अन्य साधनोंके अभावमें हम अपने गृहस्थ-धर्मको चलानेके लिए ऐसा करते हैं।

अहनन भी क्वचित् हिंसा है। इस विषयमें भी दोनों विचारकोंके दृष्टिकोण सर्वथा पृथक् रह जाते हैं। महात्माजीके विश्वासानुसार किसी क्रूर कर्मको यों ही देखते रहना हिंसामें योग करना है। आचार्य भिक्षुके मतानुसार मानसिक, वाचिक और कायिक प्रवृत्तिसे तटस्थ रहनेवाला व्यक्ति सम्मुख होनेवाले पापका भागी नहीं बन जाता। क्रूर कर्ममें योग करनेवाला व्यक्ति पापी है। उपदेश-विधिसे किसीको क्रूर कर्मसे हटानेवाला व्यक्ति धर्मी है। तटस्थ रहनेवाला व्यक्ति न पापी है, न धर्मी है।

अस्तु—बछड़ेके व तत्प्रकारके अन्य उदाहरणोंके विषयमें आचार्य भिक्षु और महात्मा गांधी अनेक अर्थोंमें एक दूसरेसे बहुत दूर रह जाते हैं।

दोनोंके ही दृष्टिकोण विचारक पाठकोंके लिए मननीय है।

दान-धर्म

"बिना प्रामाणिक परिश्रमके किसी भी चगे मनुष्यको खाना देना मेरी अहिसा बर्दाश्त नही कर सकती। अगर मेरा वश चले तो जहा मुफ्त खाना दिया जाता है, ऐसा प्रत्येक सदाव्रत या अन्न छत्र बन्द करा दू।"

(सर्वोदय दिसम्बर ३८—गाधी वाणी पृ० १५३)

"दुनियामें बिना शारीरिक श्रमके भिक्षा मागनेका अधिकार केवल सच्चे सन्यासीको है। सच्चे सन्यासीको जो ईश्वर-भक्तिके रगमें रगा हुआ है—ऐसे सन्यासीको ही यह अधिकार है। क्योकि ऊपरमें देखनेसे यह भले ही मालूम पडता हो कि यह कुछ नही करता पर अनेको दूसरी बातोसे वह समाजकी सेवा करता है, ऐसे सन्यासीको छोडकर किसीको अकर्मण्य रहनका अधिकार नही है।"

(विनोबाके विचार पृष्ठ १२०)

ऊपरके उद्धरणोंसे यह स्पष्ट हो जाता है कि गाधीवादी

विचारधारामे—दीन अनाथोंको जो कुछ दे दिया जाता है वह परम धर्म है ऐसे विचारोको कोई स्थान नहीं। उसके अनुसार वह एक धम न होनेके साथ अधर्म भी है। जैसे कि शरणार्थी-केम्पमे भाषण देते हुए आचार्य विनोबा भावेने कहा था—

❀ "बिना पर्याप्त परिश्रम किये लेनेवाले और उन्हे देनेवाले दोनो पाप करते है।"

अस्तु, आचाय भिक्षुने तत्प्रकारके दानको सावद्य (सपाप) दान कहा है। दोनोंकी निर्णायकता दानके इस पहलू पर सर्वथा एकसी प्रतीत होती है, किन्तु इस निर्णायकताके पीछे रहे दृष्टिकोण अवश्य भिन्न है

गाधीवादी दृष्टिकोण कहता है— तत्प्रकारकी दान-प्रथा देशमे दरिद्रता और भिखमंगी बढानेवाली है। समाजस्थ प्राणी दान-जीवी होनेका अधिकार नहीं रखता और न किसीको उसे दान-जीवी बनानेका अधिकार ही है। किसी भी समाजमे तत्प्रकारके दानवीरों और दानजीवियोंका होना एक सामाजिक अभिशाप है। इसलिए उक्तप्रकारकी दानप्रथा हेय और पापपूर्ण है।

आचार्य भिक्षु कहते है—यह असंयमका पोपण है अतः यह किसी भी प्रकार मनुष्यको आध्यात्मिक उन्नतिकी ओर ले जानेवाला नही है। दूसरे यह समाज-व्यवस्थाका भी अंग नही है। यह नैतिकता भी कैसे माना जा सकता है।

❀ Hindustan times, 11th April 1949

दानके अन्यान्य पहलुओं पर विचार करते हैं तो जहा तक सच्चे साधुका प्रश्न है, दोनों ही विचारधाराएँ मुक्तकण्ठसे उसे उपादेय मानती हैं। अतिरिक्त जहा लेने-देनेका प्रश्न है, वहाँ आचार्य भिक्षुके मतानुसार व्यवहार-सापेक्ष है। वह लोकदृष्टिमे नैतिकता और अनैतिकतामे विभक्त किया जा सकता है पर वह आध्यात्मिकताकी सीमामे नहीं लाया जा सकता। गाधी-विचारधाराके अनुसार जब बिना परिश्रम लिये देनामात्र ही वर्जित है, तब इतर दानका प्रश्न ही नहीं उठता। क्योंकि परि-श्रमके विनिमयमे जो दिया जाता है, वह दान कहा भी नहीं जा सकता। साराश यह हुआ—अधिकाशत दोनों विचार सर-णियोंमे हम एकरूपात्मकता ही पाते है।

त्याग और दान त्याग और दानमे आकाश-पातालका अन्तर दोनों ही सिद्धान्तोंमे स्वीकृत हैं। आचार्य भिक्षु एक उदाहरण द्वारा इसे स्पष्ट करते हुए कहते हैं :—

पाच मित्रोने चनोकी खेती की थी। सौभाग्यसे ५०० मन चने पैदा हुए। पाचोने सोचा—घरमें धन बहुत है, इन चनोका हमें दान कर देना चाहिए। प्रथम मित्रने अपने सौ मन चने भिखारियोमे बाट दिये। दूसरेने अपने हिस्सेके सौ मन चने भुजवाकर गरीबोंको बाट दिये, तीसरेने घूघरी (उबले चने) बनाकर और चौथने रोटिया बनाकर। पाचवे मित्रने अपने सौ मन चनोका जगलमें ही परित्याग कर दिया। उन्हे छूना भी अधर्म समझा।

पहले चार मित्रोंने दान किया, पांचवेंने त्याग। मोक्षका मार्ग त्याग ही है[1]।

त्याग और दानका विवेचन करते हुए सुप्रसिद्ध गांधीवादी विचारक आचार्य विनोबा भावे लिखते हैं :—

"एक आदमीने भलेपनसे पैसा कमाया है। उसे द्रव्यका लोभ है, फिर भी नामका कहिये, खासा खयाल है। उसे ऐसा विश्वास है कि दान धर्मके लिए—इसीमें देशको भी ले लीजिए, खर्च किया हुआ धन वापिस व्याज समेत मिल जाता है। इसलिए इस काममें वह खुले हाथों खर्च करता है।

दूसरे एक आदमीने इसी तरह सचाईसे पैसा कमाया था। लेकिन इसमें उसे सन्तोष न होता था। उसने एक बार बागके लिए कुआ खुदवाया। कुआ बहुत गहरा था। ... कुआ जितना गहरा गया इन चीजों (मिट्टी, पत्थर) का ढेर भी उतना ही ऊँचा लग गया। मनहीमन वह सोचने लगा, मेरी तिजोरीमें भी पैसेका एक ऐसा ही टीला लगा हुआ है, उसी अनुपातसे किसी और जगह कोई गड्ढा तो नहीं पड़ गया हो ?' इस विचारने उसपर अपना प्रभुत्व जमा लिया कि 'व्यापारिक सचाई' की रक्षा मैंने भले ही की हो, फिर भी इस बालूकी बुनियाद पर मेरा मकान कब टिक सकेगा ? अन्तमें पत्थर, मिट्टी और मानिक-मोतियोंमें उसे कोई फर्क दिखाई न दिया। यह सोचकर कि फिजूलका कूड़ा-कचरा भरकर रखनेमें क्या लाभ, उसने

१—भिक्षु यश रसायन गीति १५, पृष्ट ५२

अपना सारा धन गगामें बहा दिया। उससे कोई कोई पूछते हैं 'दान क्यो न कर दिया ?' वह जबाब देता है, 'दान करते समय 'पात्र' तो देखना पडता है। अपात्रको दान देनसे धमके वदले अधर्म होने का डर जो रहता है। मुझे अनायास गगाका 'पात्र' मिल गया। उसमें मैंने दान कर दिया।' इमसे भी सक्षेपमें वह इतना ही कहता है—'कूडे-कचरेका भी कही दान किया जाता है ?' उसका अन्तिम उत्तर है 'मौन'। इस तरह उसके सपत्ति त्यागसे उसके सब 'सगोने' उसका परित्याग कर दिया।

पहली मिसाल दानकी है, दूसरी त्याग की। आजके जमानमें पहली मिसाल जिस तरह दिल पर जमती है, उस तरह दूसरी नहीं। लेकिन यह हमारी कमजोरी है।"

"पुराने जमानेनें आदमी और घोडा अलग अलग रहते थे। कोई किसीके अधीन न था। एक वार आदमीके कोई एक जल्दीका काम आपडा। उसने थोडी देरके लिए घोडसे उसकी पीठ किराये पर मागी। घोडेने भी पडोसीके धर्मको सोचकर आदमीका कहना स्वीकार कर लिया। आदमीने कहा—'लेकिन तेरी पीठ पर में यों नही बैठ सकता, तू लगाम लगाने देना तभी में बैठ सकूगा।' लगाम लगाकर मनुष्य उसपर सवार हो गया और घोडेने भी थोडे समयम उसका काम वजा दिया। अब करारके मुताबिक घोडेकी पीठ खाली करनी चाहिए थी पर आदमीसे लोभ न छूटता था। वह कहता है ' ...हा, तूने मेरी खिदमत की है (और आगे भी करेगा), इसे मै कभी न भूलूगा। इसके वदलेमें मै तेरी खिदमत करूगा।

तेरे लिए घुडशाल बनाऊंगा, तुझे दाना-घास दूंगा, पानी पिलाऊंगा, खरहरा करूँगा, जो कहेगा वह करूँगा पर छोडनेकी बात मुझसे मत कहना।' घोडा त्याग चाहता था, आदमी दानकी बातें कर रहा था। भले आदमी, कमसे कम अपना करार तो पूरा होने दे।"

(विनोबाके विचार पृष्ठ ४-६)

एक व्यक्तिने सौ मन चने जंगलमें छोड़ दिये और एकने अपना धन गंगामे विसर्जित कर दिया। सर्वसाधारणसे यदि एकाएक पूछा जाय, चनेके पांच व्यापारियोंमें और दो धनिकोंमे मूर्ख कौन हुआ, तो स्यात् तत्काल उत्तर होगा—मूर्ख वही दो है, जिन्होंने चने और धन खेत और गंगामे विसर्जित कर दिये। जो न अपने काम आये, न समाजके। धन और चनोंका सर्वथा दुरुपयोग हुआ। आचार्य भिक्षु और विनोबा भावेका जो निर्णय था, वह बताया ही जा चुका है। तत्त्व-दृष्टि और लोक-दृष्टिका भेद दो मनीषियोंके चिन्तनमे स्पष्ट हो जाता है।

प्रत्यक्ष ही मनुष्यके लिए सब कुछ नहीं है। उसका मूल ध्येय तो परोक्षके गर्भमे छिपा है। परोक्ष-साधनाके लिए त्याग अधिक विशुद्ध रह सकता है। दानमें देश, काल, पात्रकी अनिवार्य अपेक्षा रहती है। कीर्ति व सम्मानकी भावनाका आवरण भी उसे दूषित कर देता है। त्यागका तेज इन बहुत-सी उपाधियोंसे अछूता रह जाता है।

खेतमे चनोको छोड़ देना और गंगामे धनको प्रवाहित कर देना त्यागको समझनेके स्थूल उदाहरण हैं। त्यागका प्रमुख हार्द

तो असंग्रह-वृत्तिमे निहित है ही। आवश्यकताओंको कम करने और संग्रहकी लालसाको समाप्त करने मे ही त्यागके विराट् दर्शन है।

माके (मक्खीमार) मक्खियोंको मारनेके लिए मंडरा रहे है।

उक्त स्थितियोंमे साधु अहिंसा-धर्मका पालन कैसे करेंगे।

महात्मा गाधीके सामने भी इसप्रकारके प्रश्न आयें। उन्होने उनका क्या समाधान किया, यह निम्न उद्धरणमे पढ़ें :—

"एक भाई पूछे छे—'नाना जतुओ एक बीजानो आहार करता' अनेक वार जोइए छीए। मारे त्या एक घरोली[1] ने एवो शिकार करता रोज जोउ छु, अने बिलाडीने पक्षीओ नो। शु ए मारे जोया करवो? अने अटकावता बीजानी हिंसा करवी? आवी हिंसा अनेक थया ज करे छे, आमा आपणे शु करवु?"

उ०—में आवी हिंसा नथी थती जोई शु? घणीये वार घरोलीने वादानो शिकार करती अने वादाने बीजा जन्तुओ नो शिकार करता मे जोया छे। पण ए 'जीवो जीवस्य जीवनम्' नो प्राणी-जगतनो कायदो अटकाववानु मने कदी कर्तव्य नथी जणायु। ईश्वरनी ए अगम्य गूच[2] उकेलवाना हु दावो नथी करतो। पण एवी हिंसा जोई जोईने मने तो प्रतीत थाय छे के, पशु अने ऊतरती योनिनो कायदो ते मानव-योनिनो कायदो नथी, माणसे तो सत[3] थी प्रयत्न करीने पोतानी अन्दर रहेला पशुने जीतवानो अने तेने मारीने आत्माने जीवतो राखवानो प्रयत्न करवानो छे। पोतानी आसपास चाली रहेला हिंसाना दावा-नल मायी अहिंसानो महामन्त्र शीखवानो छे। एटले माणस जो पोतानी प्रतिष्ठा समजे अने पोतानु जीवनकार्य कलीजाय तो तेणे हिंसामा पोते

१—छिपकली २—गाठ ३—जागरुकता

भाग लेता अटकवु अने पोतानी थी ऊतरता अथवा पोताने ताबेना[1] प्राणिओने कनडता[2] अटकवु ए आदर्श ए पोताने माटे ज राखी शके छे अने काई नहि तो पोताना थी नबला पोताना बधुओने कनडतोतो ते अटकी शके छे अने ए पण आदर्श,—कारण तेये सपूर्णपणे पालवाने माटे तेणे सतत दिनरात प्रयत्न ज चालू राखवो रह्यो, त्यारे कोई दिवस ते तेने पहोची शकशे। आमा पूरी सफलता तो त्यारे ज मली शके के, ज्यारे माणस मोक्ष मेलवी देहना तमाम बधनथी मुक्त थाय।"
ता० १८-४-२६ (महात्मा गाधी द्वारा लिखित अहिंसा पृ० २७)

अहिंसाके एक ही पहलू पर आचार्य भिक्षु चूहे और बिल्लीके उदाहरणसे सोचते हैं, महात्मा गाधी छिपकली और अन्य छोटे जीव-जन्तु तथा बिल्ली और कबूतर आदि पक्षियोके उदाहरणसे। सोचनेका प्रकार और निर्णायकता समान सी है। अहिंसाको समझनेमे दोनोंकी ही दृष्टि पैनी रही है दोनोके ही निर्णयमे अहिंसा व दयाका व्यामोह नहीं किन्तु गम्भीर चिन्तन है।

१—आश्रित २—पीडा देना

प्राण-रक्षा

प्राण-रक्षाके विषयमें आचार्य भिक्षुके विचार बेजोड़ अर्थात् निराले हैं। उन्होंने माना था—जीना और मरना आत्माके मौलिक प्रश्न नहीं है। यह एक चक्कर है, जिसमें कर्मलिप्त आत्मा विवशतया भटका करती है। मरणके बाद जीवन और जीवन के पश्चात् मृत्यु है। आत्माकी गम्भीर समस्या तो आत्मगुणोंके विकास और ह्रासमें है। किसी आत्माको पतित होनेसे बचा लेना ही वास्तविक दया है। प्राण-रक्षा उसका आनुषङ्गिक फल है। उन्होंने अपने इस तथ्यको तीन दृष्टान्तोंसे सर्वसाधारणको समझाया।

(१)

तीन[1] दृष्टान्त

एक सेठकी दुकानमें साधु ठहरे थे। रातको कुछ चोर आये और तिजोरिया तोड़कर धन ले जाने लगे। साधु जग पड़े। उन्होंने चोरोंको उपदेश दिया। चोरोंका हृदय बदला, उन्होंने जीवनभरके लिए चोरी करनेका परित्याग लिया। इतनेमें प्रातःकाल

१—अनुकम्पा गीति ४

हुआ। सेठ दुकानमे आया और सारी घटनासे अवगत हुआ। साधुओके प्रति उसने असीम कृतज्ञता प्रकट की और कहा—आपने मेरे धनकी रक्षा नहीं की, मेरे प्राणोंकी रक्षा की है, आप परम दयालु हैं।

यहा साधुओंके उपक्रमसे दो कार्य हुए। चोरोंकी आत्मा पापसे अर्थात् पतनसे बची और सेठका धन बचा। यहा धर्म केवल चोरोंकी आत्माका जो उत्थान हुआ, वही है न कि सेठकी आत्माको जो सुख मिला वह , वह तो केवल आनुषङ्गिक फल-मात्र है।

(२)

एक कसाई कुछ बकरोंको लिए जा रहा था। रास्तेमे साधु मिले। साधुओने कसाईको उपदेश दिया, हिंसाके बुरे फल बतलाये। कसाईका हृदय बदला और उसने जीवनभरके लिए बकरे न मारनेका संकल्प किया।

यहा भी दो प्रतिफल हुए—कसाई पतनसे बचा और बकरो की जान बची। कसाईका आत्मोत्थान धर्म है, बकरोंका जीवित रहना प्रसङ्गोपात्त फल है।

यहा जब प्रश्न सामने आता है, यदि सेठका धन बचना और बकरोंका जीवित रहना भी धमके अन्तर्गत मानलिया जाय तो क्या आपत्ति है अर्थात् मान ही लेना चाहिए।

इस प्रश्नका समाधान तीसरा दृष्टान्त है।

(३)

साधु बाजार मे किसी दुकान पर ठहरे हुए थे। रातका समय था। सडक पर कुछ व्यक्तियोंको हंसी-ठट्ठा करते हुए जाते देखा। साधुओंने अपने विशद ज्ञानसे जान लिया, ये कहीं वेश्याके यहा जा रहे है। साधु उन्हे उपदेश करने लगे। धीरे-धीरे विषय वेश्या-गमनका आया और उन्होंने उसकी बेहद बुराइया उन्हे समझाईं। उनका हृदय बदला और उन्होंने वेश्या-गमनका सर्वथा परित्याग किया। इतनेमे इन्तजारमे बैठी वेश्या ऊबकर उन्हें खोजते-खोजते वहा पहुची और उन्हे चलनेके लिए कहा। उनके इनकार करने पर साधुओं पर और उनपर झल्लाती हुई पासके किसी कुएँ मे जाके गिर पडी।

यहा भी दो कार्य हुए—उन व्यक्तियोंका आत्म-उत्थान और वेश्याको हिंसा। यदि पूर्वोक्त दृष्टान्तोंमे दोनो प्रतिफल धर्मके अन्तर्गत मानलिये जाते है और यदि उस लाभके भागी साधु है तो यहा साधुओंको धर्मके साथ-साथ वेश्याकी हिंसाका भागी भी बनना पडेगा।

अस्तु—रक्षाके प्रसगमे आपका निर्णय था—आततायी आत्माको पापोंसे बचाया जाता है और वह भी अहिंसात्मक तरीकोंसे, वही वास्तविक दया है, जो आध्यात्मिकताकी कोटिमे आ सकती है। शेप दया जिसमे केवल शरीर-रक्षाका ही उद्देश्य है, मोहयुक्त और सामाजिक अर्थात् ऐहिक है।

इस विषयमे उन्होंने दूसरी देन दी—'बचाओ' की अपेक्षा

'न मारो' का सिद्धान्त व्यापक है, वह अपूर्ण है, यह पूर्ण है। क्योकि बचाओका प्रचार करनेवाला व्यक्ति किसी अंशमे 'मारो' का अभिप्राय भी स्वीकार कर लेता है। यदि नहीं तो वह मत मारोका ही प्रचार क्यों नहीं करता, जिसमे बचाओका विचार स्वत अन्तर्गर्भित हो जाता है। अत 'मत मारो' का विचार ही युक्ति व सिद्धान्त-सिद्ध होनेके कारण उपादेय है।

अस्तु—सारे तथ्यको हम इन शब्दोंमे दुहरा सकते हैं—आत्मोत्थानका अहिंसात्मक सहयोग ही तात्त्विक दया है। असयमी प्राणियोके प्रति किया गया भौतिक सहयोग मात्र व्यवहार-दया है। उसकी उपयोगिता सामाजिक व्यवहार तक ही सीमित है। मोक्ष-मार्ग तो केवल आध्यात्मिक दया ही है।

आचार्य भिक्षुकी तरह महात्मा गाधीने भी दया व रक्षाके विषयमे संसारको एक नया विचार दिया, जो सर्वसाधारणकी प्रचलित धारणाके नितान्त प्रतिकूल है। वह श्री भिक्षुकी विचार-धारामे क्वचित् सर्वत समाहित होता है और क्वचित् सर्वथा पृथक् अस्तित्व रखता है। यहा हमे रक्षाकार्यको दो दृष्टियोंसे देखना पडता है, साध्य—जिसे बचाया जाता है, साधन—जिस प्रकारविशेपसे बचाया जाता है। आचार्य भिक्षुके मतानुसार धर्मदृष्टि प्राणरक्षामे साध्य व साधन की शुद्धता अनिवार्य्यत आवश्यक मानती है अर्थात् साधन अहिंसात्मक हो और संयमी। लोक - व्यवहार प्राण - रक्षाको साध्य व

गान्धी-दृष्टिकोण

साधनकी विशुद्धताके कठघरेमें नहीं बाधता। व्यावहारिक वातावरणमें साध्य-साधनकी शुद्धता अनिवार्य अपेक्षा नहीं रखती। वहा यह माना जाता है—एक वधिक किसी निरपराध व्यक्तिकी पीठमे छुरा भोक रहा है, वह यदि उपदेशमात्रसे अपना कृत्य नहीं छोडता तो बलात्कार भी वहा प्रयोज्य है।

गाधीजोके विश्वासानुसार प्राण-रक्षामे अहिंसात्मक साधन की अनिवार्य आवश्यकता है।

साधन-शुद्धि पर बल देते हुए वे कहते है—

"मछली खानेवालेको जबर्दस्ती मछली खानेसे रोकनेमें बहुत ज्यादा हिंसा है...........जबर्दस्ती करनेवाला घोर हिंसा करता है। बलात्कार अमानुषी कर्म[1] है।"

"तब क्या गायको बचानेके लिए मै मुसलमानोसे लडूगा या उनकी हत्या करूगा ? ऐसा करके तो मै मुसलमान और गाय दोनोका ही दुश्मन बनूगा[2]।"

"यह तो कहीं नहीं लिखा कि अहिंसावादी किसी आदमीको मार डाले। उसका रास्ता तो सीधा है। एकको बचानेके लिए वह दूसरेकी हत्या नहीं कर सकता। उसका पुरुषार्थ और कर्तव्य तो केवल विनम्रताके साथ समझाने-बुझाने[3] में है।"

भाई, पिता, पति या मित्र अपने आश्रित व आक्रमणकारीके बीच

१—हिन्दुस्तान ...... २—हिन्द-स्वराज्य पृष्ठ ७७

३—हिन्द-स्वराज्य पृष्ठ ७९

खडा हो जाय। या तो आक्रमणकारीको उसके बुरे उद्देश्यसे उसको समझाकर दूर कर देगा अथवा उसे रोकनेमें अपनेको उसमें खत्म होने देगा। इस तरह जीवन देकर न केवल वह अपने कर्तव्य को ही पूरा करेगा, पर अपने आश्रित को भी नया बल देगा जो कि अब शील-रक्षा कैसे करनी, यह जानेगा[1]।"

"तो क्या हमें भी अपराधीकी पीठमें छुरा निकालकर भोक देना चाहिए? मै समझता हू, यह रास्ता भी गलत होगा। हमारे लिए एकमात्र ठीक रास्ता यही होगा कि दुष्टता करनेवाले से कहें कि वह निर्दोष रक्तसे हाथ न रगे और यदि ऐसा करते समय हम स्वय उसके कोप-भाजन वन जाय तो हमें उसका स्वागत करना चाहिए[2]।"

उक्त उद्धरणोंसे हम स्पष्टतया इस निर्णय पर पहुचते है कि किसी भी स्थितिमे महात्माजीको हिंसात्मक साधन स्वीकार्य नहीं था, चाहे एक मुसलमान एक गायको मार रहा है, चाहे कोई दुष्ट किसी बहिन पर बलात्कार कर रहा है और चाहे किसीकी पीठमें कोई छुरा भोंक रहा है।

उक्त दृष्टिकोण अहिंसा व धर्मके क्षेत्रमे सर्वथा क्रान्तिकारी और आचार्य भिक्षुके विचारोंके साथ सोलह आने सामंजस्य रखनेवाला था। इस दृष्टिकोणके कारण दोनों ही विचारकोंको सर्वसाधारणके असीम विरोधका सामना करना पडा। सर्व-साधारणके द्वारा आचार्य भिक्षु दयाके विध्वंसक, अहिंसाके

१—हिन्दुस्तान ...... २—हिन्दुस्तान......

उत्थापक माने गये। महात्मा गाधीको तो हिन्दू-मुस्लिम संघर्ष मे साधन-शुद्धि पर जोर देते हुए अपने प्राण ही न्योछावर कर देने पड़े।

आचार्य भिक्षुकी अपेक्षा महात्मा गाधीका दृष्टिकोण अधिक आग्रहपरक था। आचार्य भिक्षु केवल अहिंसा और हिंसाका विवेचन ही करते थे। वे कहते थे कि यथासंभव अहिंसात्मक साधनको ही काममे लो। यदि तुम्हें कही पर हिंसात्मक साधन की अनिवार्य आवश्यकता प्रतीत होती है और तुम उसे काममे लेते तो उसे हिंसात्मक ही समझो।

महात्मा गाधीने तो मानव-प्राण-रक्षाके सम्बन्धमे अहिंसा-त्मक साधनको ही प्रयोगमे लानेका आग्रह किया। उनका विश्वास था—मानव-मानवके पारस्परिक व्यवहारमें हिंसात्मक साधनकी नीतिके रूपमे भी कोई उपादेयता नहीं है।

साधनके विषयमे दोनो विचारकोंकी दृष्टिमे जितनी एका-त्मकता है, साध्यके विषयमे उतनी ही पृथक्ता। आचार्य भिक्षु का मत था—साध्य अर्थात् जिसकी रक्षाकी जाती है, यदि वह पूर्ण संयमी है तो वह रक्षा अध्यात्म-धर्म है। यदि वह असंयमी अर्थात् हिंसा, असत्य, चौर्य्यमे सूक्ष्मतः या विशेपतः प्रवृत्ति करनेवाला है तो वह रक्षा धर्मानुमोदित नहीं हो सकती। यदि वह सामाजिक दृष्टिसे नीतिपरक है तो अवश्य समाज-धर्म या व्यवहार-धर्म कही जा सकती है।

गाधीजीने सर्वत्र सेवा-धर्मको महत्त्व दिया। उनके विचारों

में साध्यके विषयमे संयमी और असंयमीके दो विकल्प नहीं थे, ऐसा लगता है। कुष्टीकी सेवा वे स्वयं करते रहे है। पडोसी और दीन-दुःखियोंकी सेवाको उन्होंने परम धर्म बताया है। आचार्य भिक्षुने सेवाके भी दो भेद बताये—एक आधिभौतिक, एक आध्यात्मिक। किसी पडोसी व दीन-दुखीकी शारीरिक परिचर्या भौतिक सेवा है और किसीको आत्म-पतनसे बचाना व किसी पतितकी आत्माको ऊँचा उठाना आध्यात्मिक सेवा है। भौतिक सेवा समाज-धर्म और आध्यात्मिक सेवा मोक्ष-धर्म है।

'मोक्ष-धर्म और समाज-धर्म' प्रकरणमे यह बताया गया था, महात्मा गाधी द्वारा व्यवहृत धर्म-शब्द व्यापक है। कहीं वह मोक्ष-धर्मके अर्थमे है और 'बन्दर - प्राण - हरण' आदि बहुतसे प्रसंगोंमे सामाजिक कर्त्तव्यके अर्थमे। यह तो नहीं बताया जा सकता, उनका सेवाके विषयमे व्यवहृत धर्म-शब्द किस अर्थका द्योतक है। हा, इतना अवश्य लिखा जा सकता है, यदि सेवाके प्रसंगमे उनके धर्म-शब्दका हार्द भौतिक और आध्यात्मिकके भेद से उभयात्मक रहा है, तो दोनों विचार-सरणिया एक रूप हो जाती है और मोक्ष-धर्मके अर्थमे ही यदि वह प्रयुक्त है तो दोनो विचारधाराएँ पूर्व और पश्चिमकी तरह सर्वथा पृथक् रह जाती हैं।

परिशिष्ट : १ :

(आचार्य भिक्षु)

हिंसा री करणी में दया नही छै,
दया री करणी में हिंसा नाह।
दया नै हिंसा री करणी जुई छै,
ज्यू तावडो नै छाह॥

(अनुकम्पा नवम गीति गाथा ७० वी)

भावार्थ—हिंसायुक्त कार्योंमे दया अर्थात् अहिंसा या धर्म नहीं हो सकता और दयाके कार्यों में हिंसाका कोई स्थान नहीं होता। दया और हिंसाके कार्य ऐसे पृथक्-पृथक् है, जैसे धूप और छाया।

जिन मारग री नीव दया ऊपर,
खोजी हुवै ते पावै।
जो हिंसा किया धर्म हुवै तो,
जल मथिया घी आवै॥

(अनुकम्पा नवम गीति गाथा ७४ वी)

भावार्थ—जन-धर्मकी नींव दया पर अवस्थित है। जो खोजता है, वह पाता है। जल-मन्थनसे यदि घी निकलता हो तो हिंसा करनेसे धर्म हो सकता है। अर्थात् हिंसामे धर्म हो ही नहीं सकता।

और वस्तु में भेल हुवै,
पण दया में नही हिंसा रा भेल ।
पूरव नें पश्चिम रो मारग,
किण विधि खावै मेल ।।

(अनुकम्पा नवम गीति गाथा ७१ वी)

भावार्थ—और बहुत सी वस्तुएँ परस्पर मिलकर एक हो सकती है पर दयामें हिंसा नहीं मिल सकती। पूर्व और पश्चिम के मार्ग परस्पर कैसे मिल सकते है।

देश थकी दया श्रावक पालै,
तिण नें पिण साध बखाणै ।
श्रावक हिंसा करै घर बैठो,
तिणमें धर्म न जाणै ।।

(अनुकम्पा नवम गीति गाथा १३ वी)

भावार्थ—गृहस्थ आशिक दयाका पालन करता है, वह भी प्रशंसनीय है पर गृहस्थ जो हिंसा करता है, उसमे कभी धर्म नहीं होता।

अर्थ अनर्थ हिंसा कीधा,
अहित रो कारण तास ।
धर्म रै कारण हिंसा कीधा,
बोध - बीज रो नाश ।।

(अनुकम्पा नवम गीति गाथा ४८ वी)

भावार्थ—हिंसा चाहे सप्रयोजनकी जाती है या निष्प्रयोजन

आत्माके लिए अहितका ही कारण है। धर्मोपार्जनके लिए जो हिंसा करता है, उसके तो बोध-बीजका ही नाश हो जाता है।

सर्वदा, सर्वप्रकार[1] से, किसी[2] प्रकारके जीवको भय उत्पन्न न करना, अरिहन्त भगवान्ने अभयदान बतलाया है—यह भी दयाका ही नाम है।

दया-दया सब कोई चिल्लाते हैं—दया ही वास्तविक धर्म है, यह ठीक है परन्तु जो सच्ची दयाको जानकर उसका पालन करता है, मोक्ष उसीके नजदीक होता है।

भय दिखाकर, जोर-जबर्दस्ती कर, लोभ-लालच देकर या ऐसे ही अन्य उपायोसे दया पलवाना कोई दया-धर्म नहीं है। यह तो दूसरेके लिए अपनी आत्माका पतन करना है। दया हृदयकी चीज है, वह बाहरसे ठूसी नहीं जा सकती।

अहिंसा आत्म-शुद्धिका अनन्य साधन है। जिसप्रकार उच्च स्थान से जल ढलकर नीचे गिर पडता है, उसी प्रकार अहिंसा से निरन्तर भावित होनेवाले प्राणीके कर्म ढल जाते है। अहिंसा की उपासनाका ध्येय केवल आत्म-शुद्धि ही है। आत्माकी पवित्रतामे सहायक होनेसे अहिंसा उपास्य है।

१—मन, वचन काया द्वारा करने कराने और अनुमोदनरूप।

२—पृथ्वीकाय, जलकाय, वायुकाय, अग्निकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय (हलते-चलते प्राणी)—ये छ प्रकारके जीव जैन-शास्त्रो में बतलाये गये है।

खाते-पीते, उठते-बैठते, चलते-फिरते साधु द्वारा जीवोंका नाश होता है फिर भी वह सम्पूर्ण अहिंसक ही है क्योंकि अन्तर-वृत्तियोंके निरोधके कारण वह हिंसाकी जरा भी भावना नहीं रखता। वह हिंसासे सर्व प्रकारसे निवृत्त हो चुका होता है तथा आत्म-जागृति पूर्वक बचनेका प्रयत्न करता रहता है। इस पर भी अपने अपने निमित्तसे जीव मरते ही रहते है, उसका पापी वह नहीं कहला सकता।

हे भव्य! तुम वृक्षादिको न काटनेका व्रत लेते हो, वृक्षोंकी रक्षा होती है, तालाब, सर आदि न सुखानेका नियम करते हो तालाब जलसे परिपूर्ण रहता है, लड्डू आदि मिठाई खानेका परित्याग करते हो, मिठाई बचती है, दव लगाने, गांव जलाने आदि सावद्य कार्यों का त्याग करते हो, इससे गाव जगल आदि की रक्षा होती है। तुम चोरी करनेका त्याग करते हो, दूसरोंके धनको रक्षा होती है। परन्तु वृक्ष, तालाब, लड्डू, गाव आदिके इस प्रकार बचनेसे तुम्हें धर्म नहीं है, न धनकी रक्षा पर धनीके राजी होनेसे। तुम्हारा धर्म इन सबसे परे—तुम्हारे आत्म-संयम—तुम्हारी पापोंसे विरतिमे है। तुम व्रत-ग्रहण कर अव्रत को दूर करते हो, आते हुए कर्मों को रोकते हो, वैराग्यसे आत्माको भावित करते हो, इसीसे तुम्हें धर्म है—तुम्हारी आत्माका निस्तार है।

(श्रीमद् आचार्य भीखणजीके विचाररत्नसे)

आचार्य भिक्षु अपने प्रतिपाद्य तत्त्वको बहुधा दृष्टान्तकी

भाषामे समझाया करते थे। उनके दृष्टात जन-मानसको छू देने वाले होते थे। उनमेसे कुछ एक नीचे दिये जाते हैं —

दो पत्नियां

एक सेठके दो पत्निया थीं। एक आत्म-तत्त्वको समझनेवाली पण्डिता थी और दूसरी केवल लोक-व्यवहारको सब कुछ समझने वाली। सेठका शरीरान्त होने पर पहली यह मानकर कि शरीर नश्वर है, इसके लिए मोह करना कर्म-बन्धनका हेतु है, चुपचाप वीतराग जनोका स्मरण करने लगी। दूसरी छाती-माथा कूटने लगी और 'हा अरे' 'हो अरे' कर चिल्लाने लगी। आनेवाले लोग कहने लगे—यही पतिभक्ता है, इसी बेचारीको दु ख हुआ है। उसके (दूसरीके) तो वह लगता ही क्या था।

तात्पर्य—मोक्षदृष्टि लोकदृष्टिसे सर्वथा पृथक् है। तत्त्वज्ञ साधु-जन उस स्थितिमे पहलीकी ही प्रशंसा करेंगे।

(भिक्षु यशरसायन गीति १२ वी)

पाच रोटिया

एक व्यक्ति रोटिया बना रहा था। एक रोटी बनाकर उसने चूल्हेके पीछे रखली। दूसरी रोटी तवे पर सिक रही थी और तीसरी अंगारों पर। चौथीका आटा उसके हाथमे था और शेष पाचवींका भींगा आटा कठौतीमे रखा था॥

इतनेमे एक कुत्ता आया। कठौतीसे लोईको उठाकर ले भागा। वह व्यक्ति झूंझलाकर ज्योंका त्यों उठा और उस कुत्ते

के पीछे दौडा। ग्रामदाहके दरवाजेसे ज्योंही गलीमें उतरने लगा, ठोकर खाकर ऐसा गिरा कि हाथकी लोई मिट्टीमे मिल गई। पीछे से एक विल्ली आई, चूल्हेके पीछेकी रोटीको उठाकर चम्पत हो हो गई। तवेकी तवे पर अंगारोंकी अंगारों पर जल गई। व्यक्ति हेरान होकर सोचने लगा - एक नष्ट नहीं होती तो पाचों ही नहीं होती।

तात्पर्य—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—ये पाच महाव्रत है। इनका परस्पर अविनाभाव सम्बन्ध है। अर्थात् इनमेसे किसी एक व्रतके टूटते ही शेष चारों भी नहीं रह सकेंगे। अत. कोई व्यक्ति यह दावा नहीं कर सकता—मे चार तोन आदि महाव्रतोका पूर्णरूपसे पालन करता हू।

यही उक्त दृष्टातका हार्द है।

(भिक्षु यशरसायन दृष्टान्त ४१)

पतिका नाम नाथू

किसी पुरुपने किसी स्त्रीसे पूछा—क्या तुम्हारे पतिका नाम नाथू है ? उसने उत्तर दिया—कौन कहता है मेरे पतिका नाम नाथू है। पुरुषने कहा—क्या पाथू है ? वह बोली—मैं नहीं जानती कौन वेचारा पाथू है। पुनः पुरुपने कहा—क्या तुम्हारे पतिका नाम पेमा है ? वह झझलाकर बोली—क्यों है मेरे पतिका नाम पेमा। इस तरह अनेक नाम लेते लेते जव सही नाम आया तो वह चुप रह गई। इससे व्यक्तिने उसके बिना बोले ही समझ लिया—उसके पतिका नाम यह है।

तात्पर्य—कुछ लोग कुपात्र दानमे भी पुण्य मानते हैं परन्तु जन-समूहमे ऐसा कहना नहीं चाहते लेकिन पूछनेवाला चतुर होता है। उनके न कहने पर भी उक्तप्रकारसे उनकी मान्यता समझ लेता है।

(भिक्षु यशरसायन दृष्टान्त १६)

वहुतसे लोग व्रत और अव्रतकी पृथक् पृथक् विवेचना नहीं करते। वे प्रवृत्ति और निवृत्तिको एक कर देते है। वस्तुत प्रवृत्तिके स्थान पर प्रवृत्ति है और निवृत्तिके स्थान पर निवृत्ति। दोनोंको एक मान लेनेमे दोनोंका ही महत्त्व नष्ट हो जाता है। घीके स्थान पर घी है और तम्वाकूके स्थान पर तम्बाकू। दोनों का मेल कर देनेसे न घी रहता है, न तम्वाकू।

(भिक्षु यशरसायन दृष्टात १९)

धर्मदान वही है, जिसमे चित्त, वित्त और पात्र अर्थात् देने वाला व्यक्ति दिया जानेवाला द्रव्य और लेनेवाला पात्र तीनों शुद्ध हों। तीनोंमे यदि एक भी अशुद्ध हो तो वह धर्म-दान नहीं कहला सकता। जैसे घृत, मैदा और चीनी इन तीनोंके योगसे हलुआ तैयार हो जाता है। पर घृतकी जगह यदि गोमूत्र हो या मैदेकी जगह घोड़ेकी लीद तथा चीनीकी जगह वालू हो तो हलुआ क्या खाक वनेगा।

(भिक्षु यशरसायन दृष्टान्त २१)

दया मात्र ही शुद्ध नहीं होती। वहां (दयामे) भी अहिंसा और संयमकी सुरक्षा अपेक्षित है। दूध दूध ही तो सव एक

नहीं होते। गायका भी दूध होता है, आक और थोहरका भी। एक अमृत है, दूसरा विष।

(भिक्षु यशरसायन दृष्टान्त २४)

बहुतसे आदमी मिश्र-धर्मकी प्ररूपणा करते हैं, कहते हैं—यहा थोडी हिंसा है, इसलिए थोड़ा पाप और अधिक प्राणी बच जाते हैं, इसलिए अधिक धर्म। यह गलत सिद्धान्त है। हिंसायुक्त कार्यमे धर्म हो ही नहीं सकता। क्या बहुतसे जीवोंकी रक्षाके लिए कसाईको मारदेना धर्म हो सकता है?

(भिक्षु यशरसायन दृष्टान्त २६)

परिशिष्ट : २ :

(महात्मा गांधी)

खादी ने विषे ओछी क्रिया होवाथी तेमा ओछी हिंसा छे

ता० १५-३-२५

(अहिंसा पृष्ठ १०)

मारी अल्पमति प्रमाणे तो सामान्य जबाव अे ज छे के वाघवरु इत्यादिनो उपद्रव थाय त्यारे तेनो नाश अनिवाय छे पाणीमा रहेला जंतुओनो नाश पण अनिवार्य छे अनिवार्य हिंसा अे हिंसा मटा अहिंसा नथी बनती हिंसा ने अहिंसारूपे ओळखवी ज जोइअे वाघवरुनो नाश कर्या विना कोई चलावे तो ते उत्तम छे अे विषे मने शंका नथी

ता० ९-८-२५

(अहिंसा पृष्ठ २०-२१)

अहिंसा धर्मना पालन अर्थे मनुष्ये शास्त्रनी अने रिवाजनी मर्यादानु पालन करवु जोइअे शास्त्र हिंसानी आज्ञा नथी देतु पण शास्त्र अमुक हिंसानी ते कालने सारु अनिवार्य समजी छूट मूके छे जेमके मनुस्मृतिमा अमुक प्राणीओना वधनी रजा[1] छे अेम मनाय छे अे वधनी आज्ञा नथी त्यार बाद विचारमा

१—आज्ञा

खादी ने विषे ओछी क्रिया होवाथी तेमा ओछी हिंसा छे

ता० १५-३-२५

(अहिंसा पृष्ठ १०)

मारी अल्पमति प्रमाणे तो सामान्य जवाब ओ ज छे के वाघवरु इत्यादिनो उपद्रव थाय त्यारे तेनो नाश अनिवार्य छे पाणीमा रहेला जंतुओनो नाश पण अनिवार्य छे अनिवार्य हिंसा ओ हिंसा मटी अहिंसा नथी बनती हिंसा ने अहिंसारूपे ओल-खवी ज जोइओ वाघवरुनो नाश कर्या विना कोई चलावे तो ते उत्तम छे ओ विषे मने शंका नथी

ता० ९-८-२५

(अहिंसा पृष्ठ २०-२१)

अहिंसा धर्मना पालन अर्थे मनुष्ये शास्त्रनी अने रिवाजनी मर्यादानु पालन करवु जोइओ शास्त्र हिंसानी आज्ञा नथी देतु पण शास्त्र अमुक हिंसानी ते कालने सारु अनिवार्य समजी छूट मूके छे जेमके मनुस्मृतिमा अमुक प्राणीओना वधनी रजा[1] छे ओम मनाय छे ओ वधनी आज्ञा नथी त्यार बाद विचारमा

१—आज्ञा

उन्नति थई तेथी अेम ठर्यु के कलिकालमा अे छूट नथी अेथी आजनो रिवाज अमुक हिंसा ने क्षंतव्य गणे छे ने मनुस्मृतिनी केटलीक हिंसानो प्रतिबन्ध करे छे अमुक छूट शास्त्रे मूकेली छे तेथी आगल वधवानी दलील देखीती रीते खोटी छे संयम मा धर्मछे स्वच्छन्द मा अधर्म छे. शास्त्रे आपेली छूट जे मनुष्य न ले तेने धन्यवाद घटे

ता० ९ ८-२५

(अहिंसा पृष्ठ २२)

खेती इत्यादिक आवश्यक कर्मो शरीर-व्यापारनी जेम अनिवार्य हिंसा छे ते हिंसा नथी मटती पण ते अनिवार्य होई तेनो दोष ओछो लागे छे

ता० २०-९-२५

(अहिंसा पृष्ठ २५)

उपर कहेली वधी[1] क्रियाओ मा हिंसा छे ज, केमके, क्रियामात्र हिंसामय छे ते थी सदोष छे भेदमात्र ओछावत्ता प्रमाणनो छे. देहनो अने आत्मानो संबंध ज हिंसा उपर रचायलो छे पापमात्र हिंसा छे अने पापनो सर्वथा क्षय अेटले देहमुक्ति, तेथी देहधारी अहिंसा ने आदर्श राखोने जेटले दूर जई शकाय तेटले दूर जाय पण दूर मा दूर जता छता काइक हिंसा अनिवार्य रहेशे, जेमके श्वासोच्छ्वास अथवा खावुं अनाजना कणोकणमा

१—समस्त

जीव तो छे ज अेटले जो आपणे मांसाहारने बदले अन्नाहार करीअे छीअे तो हिंसा मांथी मुक्त रहीअे छीअे अेम न कहेवाय, पण अन्नाहारमां थता हिंसाने अनिवार्य समजी ते आहार करीअे छीअे, अने तेथी ज भोगने अर्थे आहार सर्वथा त्याज्य छे

ता० ६ ६-२६

(अहिंसा पृष्ठ २८)

अहिंसा ने दया मा अेटलो भेद छे जेटलो सोनामा ने तेना घाटमां, मूलमा ने बहार नीकळेला वृक्षमा ज्यां दया नथी, त्यां अहिंसा नथी अहिंसा नी कसोटी दया छे अहिंसानु मूर्त्त-स्वरूप दया छे तेथी अेम कहेवाय के जेटली दया तेटली अहिंसा

ता० ३१-३-२९

(अहिंसा पृष्ठ ४९)

मांदगी के अशक्ति सिवाय मनुष्ये मनुष्य पासे ऊंचकावु पापरूप लागे छे मनुष्यनो उपयोग पशुनी जेम कराय? जे आपणे करवा तैयार न होईअे ते बीजानी पासे केम करावीअे.

ता० २२-३-२५

(अहिंसा पृष्ठ ६४)

१—माकार-विशेष.

कोई पण जीवने मारवामा पाप छे अे विषे हिन्दुधर्ममा वे मत साभल्या ज नथी मारो अभिप्राय तो अेवो छे के बधा धर्म अे सिद्धान्तनो स्वीकार करे छे

ता० १०-१०-२६

(अहिसा पृष्ठ ६७)

आपणे आँख मींचीने जोयुं न जोयुं करीअे अेमा अहिंसा नथी, विचार नथी, विवेक नथी ज्यारे ज्यारे कूतरानो उपद्रव थाय त्यारे ते मनुष्ये हाथे मरवाना ज गृहस्थ-धर्ममा अे हु अनिवार्य समजु छु

ता० १७ १०-२६

(अहिसा पृष्ठ ७३)

जीव लेवानो धर्म होई शके छे अे विचारने तपासीअे[1] आ देहने निभाववा पूरतो जीवतो आपणे लई अे ज छीअे. जेमके वनस्पति आदिना अने जन्तु नाशक पदार्थो वाटे मच्छरादिनो अने तेम करवामा आपणे अधर्म नथी करता अेम पण मानीअे छीअे.

आतो आपणा अंगत स्वार्थने अंगे. परमार्थने अंगे पण आपणे हिंसक प्राणीओनो नाश करिअे के करावीअे छीअे. सिंहादि ज्यारे गाम लोकने पजवे छे त्यारे तेना नाशने समाज-धर्म समजे छे

मनुष्यवधनो धर्मपण समजाय अेवो छे. अेक मानस गांडपण[2] के मनूनमा[3] नागी तलवारे जे दीठामा आवे तेने कापतो[4] चाल्यो

१—परीक्षा करना २—मूर्खता ३—उन्मत्तता ४—काटता

जाय छे. तेने जीवतो पकडवानी कोईनी शक्ति नथी. जे माणस मारी सके छे. ते परोपकारीमा खपसे. अहिंसानी दृष्टिअे तेने मारवानो धर्म बधाने प्राप्त थाय छे. हा, अेक प्रसंग आमाथी बाद करी शकाय. जे मुनि तेना भनूनने रोकी शके ते तेने नहि मारे. परन्तु आपणे अत्यारे सम्पूर्णतानी टोचे[1] पहोंचेला मुनिओना वर्तननो प्रश्न नथी, उकेलता, पण समाजनो धर्म अथवा समाजमा राग द्वेपादियुक्त व्यक्तिनो धर्म विचारीअेछीअे.

ता० ३१-१० २६

(अहिंसा पृ० ८२-८३)

कर्ममात्र सदोष छे केमके तेमा हिंसा रहेली छे. छता कर्मना क्षयने सारु पण आपणे कर्म ज करीअे छीअे. देहमात्र पाप छे, छतां देहने तीर्थ-क्षेत्र बनावीने तेनी वाटे आपणे देहमुक्ति केलवीअे छीअे. तेवु ज हिंसामात्र नु समजवु जोइअे.

पण अे हिंसा केवी होय ? अे स्वाभाविक होय, अे अल्पतम होय, अेनी पाछ्ल केवल करुणा होय, अेणी पाछ्ल विवेक होय, मर्यादा होय, अेने विषे तटस्थता होय, अे सहज प्राप्त धर्म होय.

आ विचारसरणीअे जता हिंसा प्रतिदिन ओछी ज थती जाय. ते थी जे हिंसानो उद्देश्य अहिंसानो क्षेत्र वधारवानो होय, जे हिंसा अनिवार्य होई थाय, जेनु परिणाम विना प्रयत्ने जोई

१—शिखर

शकाय अेवु होय, ते हिंसा क्षंतव्य छे, कर्तव्य पण होय, तेथी हिंसामा अहिंसा होई शके अेम कहेवु मुद्दल अनुचित नथी.

ता० २८-११-२६

(अहिंसा पृ० १०६-१०७)

खेडूत[1] जे अनिवार्य नाश करे छे तेने मे अहिंसामा कदी गणावेल नथी. अे वध अनिवार्य होई भले क्षम्य गणाय, पण ते अहिंसा तो नथी ज. खेडूतनी हिंसामां अथवा लेखके जो दृष्टात आप्यु छे तेमां रहेली हिंसामां समाजनो स्वार्थ रहेलो छे. अहिंसामां स्वार्थने स्थान नथी.

ता० १४-१०-२८

(अहिंसा पृ १३९)

महात्माना पद करता मने सत्य अनन्त गणु प्रिय छे. हु महात्मा नथी अेम जाणु छु, अल्पात्मा छुं अेवुं मने बरोबर भान छे, तेथी महात्मा पदे मने कदी भमाव्योके भुलाव्यो नथी. मारे कबूल करवु जोइअे के हुं तो प्रतिक्षण हिंसा करीने ज शरीरने निभावु छुं, अने तेनी ज तेने विषेनो राग क्षीण थतो जाय छे. आश्रमनी रक्षा करतां पण हिंसा करी रह्यो छुं. प्रत्येक श्वास लेता झीणा जंतुओनी हिंसा हुं करू छुं अेम जाणतो छता श्वासने रुंधतो नथी. वनस्पति आहार करवामा पण हिंसा करू छुं छता आहारनो त्याग करतो नथी मच्छरादिना क्लेशथी बचवाने मारु

१—किसान

घासलेट इत्यादि वस्तुओनो उपयोग करता तेमनो नाश थाय छे, अेम जाणतो छता आ नाशक पदार्थोनो उपयोग छोडतो नथी सरपोना उपद्रवमाथी आश्रमवासिओने वचाववाने सारु, ज्यारे तेने मार्या विना दूर न करी शकाय, त्यारे तेने मारवा दउं छु. वलदोने चलावता आश्रमना माणसो तेने परोणा वती मारे छे ते सहन करी लउं छु आम मारी हिंसानो अन्त ज नथी.

ता० २८-१०-२८

(अहिंसा पृ० १४२)

आयर्लेन्डे शरीरवलथी स्वराज मेलव्यु छे अेटले जरूर पडे तो तेज वलथी ते तेने वचावे. पण हिन्दुस्तान शांतिना प्रयोगे खरेखात स्वराज मेलवे तो तेनो वचाव पण मुख्यत्व अेज रीते करवो जोईअे, अने हिंद ज्या सुधी आ वात अखतरो[1] करी सिद्ध न करी आपे त्या सुधी मि० चर्चीलने ते वात अशक्य लागे अेमा नवाई नथी.

ता० १२-३-२२

(अहिंसा पृ० १७९)

नजात्मक (Negative) रूपमा अहिंसानो अर्थ कोई पण जीवन्त प्राणीने शरीर के मन थी इजा[2] न करवी अे छे. अेटले, अन्याय करनारना शरीरने नुकसान न पहुचाडी शकाय अथवा तेना प्रति द्वेषभाव न राखी शकाय, अने तेम करीने तेने मानसिक व्यथा पण न आपी शकाय, मारा स्वाभाविक कर्मो जे

१—प्रयोग २—पीडा

द्वेषभावथी जन्मेला होता नथी—तेनाथी अन्याय करनारने थती पीडानो समावेश आ कथनमा थतो नथी अेटले तेनी पासेथी बालकने—जेने ते मारवा तैयार थयो छे अेम आपणे कल्पना करीअे—तेनी खसेडी लेता अहिंसा मने अटकावती नथी. वास्तविक रीते जोता, मारे अहिंसानो योग्य पालन करवु होय तो मारे अन्याय करनार नी पासे थी तेना भोग थई पडनारने, बालकने—जो हुं तेवा बालक नो कोई पण रीते पालक होऊं तो—खेंची लेवो जोइअे. अेटले दक्षिण अफ्रिकाना सत्याग्रहीओ माटे अे बहु योग्य हतुं के तेओ, युनियन सरकार जे दुःख तेओने देवा मथती हती, तेनी सामे थया, तेओ सरकार माटे कोई पण प्रकार नो द्वेषभाव धरावता न हता, जे जे वखते सरकारने तेओनी मदद-नी जरूर पडती ते ते वखते मदद करी तेओ अे आ साबित करी आप्यु हतुं. तेओनो विरोध सरकारना हुकमोनो अनादर करवामा हतोः ते अेटलो हद सुधीके तेम करता सरकारना हाथे मरण नीपजे ता पण ते सहन करी लेवु. अहिंसाना सेवकने पोताने ज समजीने दुःख सहन करवानुं होय छे, परन्तु ते कहेवाता अन्याय करनारने जाणीबूजीने इजा करी शकतो नथी.

भावात्मक Positive रूपमा, अहिंसानो अर्थ विश्वव्यापी प्रेम अने अनहद औदार्य थाय छे. हुं अहिंसानो सेवक होऊं, तो ते मारे मारा शत्रु ऊपर प्रेम राखवो जोइअे. हुं जे नियम मारा अन्याय करनार पिताने के पुत्रने लगाडुं ते ज नियम मारे अन्य अन्याय करनारने—पछी ते मारो शत्रु होय के अजाण्यो माणस

होय तेनु लागु पाडवो जोइअे. आ क्रियात्मक (Active) अहिंसामा सत्य अने निर्भयतानो अवश्य समावेश थई जाय छे. माणस प्रेमपात्र व्यक्तिने छेतरी[1] शकतो नथी. ते तेनाथी बीतो नथी तेम तेने बिवडावतो[2] नथी. अभयदान सर्व दानोमा श्रेष्ठ छे. जे माणस खरेखर ते आपे छे, तेनी पासे सर्व विरोध शमी जाय छे. जे पोते भयग्रस्त छे ते अभयदान आपी शकतो नथी. माटे, तेणे पोते ज निर्णय थवु जोइअे अेटले, अहिंसानुं सेवन अने भीरुता एक साथे होई शकता नथी. अहिंसाना पालनने अत्यन्त शौर्यनी अपेक्षा छे

माडर्न रिव्यु अक्टूबर, १९१६

(अहिंसा पृष्ठ १८३-१८४)

अेक दाखलो आपुं हु अेक सस्थानो सभ्य छुं, तेनी थोडा अेकर जमीन पर वावेतर[1] करेलुं छ. तेने वादरा गमे त्यारे वगाडे अेवो तात्कालिक भय आवी पड्यो छे. जीवमात्र नुं जीवतर अहिंस्य छे अेम हु मानुं छु. अने अेथी, वादराने काई पण इजा करवी अेने हु अहिंसा धर्म नु उल्लघन गणुं छुं, परन्तु पाक बचाववाने खातर, वादरा पर तडवुं अेम दोरवणीके प्रेरणा करवामा हु अचकातो नथी. आवो दोष करवापणुं दूर करी शकाय तो अे मने गमे. अने ते तो हु संस्थानो त्याग करीने के तेने तोडीनाखीने करी शकु. पण हुं तेम करतो नथी, केमके ज समाजमा

१—छलना धोखा देना   २—भयाक्रान्त करना   १—कृषि

खेती न होय अने अेथी काईक पण हिंसा न होय अेवो समाज मली शके अेवी हु आशा नथी राखतो-तेथी पापभीरू बनी, नम्रतापूर्वक अने तप आचरतो, हु बादरा पर गुजाराती इजामा भाग लऊं छुं, अने कोक दहाडो अेमाथी मारो मार्ग मेलवी शकीश अेम आशा सेवु छुं.

अे ज वृत्ति थी मे युद्ध ना त्रण प्रसंगो मा पण भाग लीधो हतो. जे समाजनो हु छुं, अेनी साथेनो सम्बन्ध हु न छोडी शक्यो, छोडवो अे मारे माटे गाडपण ज गणाय. अने अे त्रणे प्रसंगो वेला ब्रिटिश सरकार साथे असहकार करवानो तो मारी पासे विचार न हतो. आजे सरकार सम्बन्धी मारी स्थिति तद्दन[1] भिन्न छे. अने तेथी तेना युद्धमा मारे भाग लेवो न जोइअे, अने जो शास्त्र-धारणके बीजी कोई रीतनो युद्धमा भाग लेवा माटे मारा पर बलभेरी करवामा आवे, तो मारे जेलके फासीनु पण जोखम खेडवु जोइअे.

यग इण्डिया माथी ता० १३-९-२८

(अहिंसा पृ० २९२-२९३)

बहुतसे लोग चींटियोंको आटा डालकर सन्तोष मानते हैं। ऐसा मालूम होता है, मानों आजकलकी जीवदयामे जान ही नहीं रही। धर्मके नाम पर अधर्म चल रहा है, पाखण्ड फैल रहा है।

मसूरी, २९-५-४३

(हरिजन बन्धु से)

१—सर्वथा

राग द्वेषादिसे भरा मनुष्य सरल हो सकता है, वह वाचिक सत्य भले ही पाल ले, पर उसे शुद्ध सत्यकी प्राप्ति नहीं हो सकती। शुद्ध सत्य-शोधके मानी है राग-द्वेषादि द्वन्द्वसे सर्वथा मुक्ति प्राप्त कर लेना।

निर्मल अन्तःकरणको जिस समय जो प्रतीत हो वही सत्य है। उस पर दृढ रहनेसे शुद्ध सत्यकी प्राप्ति हो सकती है।

महात्मा गांधी

(जैन भारती से)

अहिंसा मेरा धर्म है, काम्रेसका धर्म कभी नहीं रहा। काम्रेस ने तो उसे केवल नीतिके रूपमे स्वीकार किया था। नीति उसी वक्त तक धर्म रह सकती है जब तक कि उसे चलाया जाय, उसके वाद नहीं। काम्रेसको पूरा अधिकार है कि जिस वक्त जरूरत जाती रहे उसी वक्त नीतिको वदल ले। धर्मकी और वात होती है। वह तो अमर है। कभी वदल नहीं सकता।

—महात्मा गांधी

(हिन्दुस्तान दैनिकसे)

ता० २५ जुलाई १६४७

मेरे प्रयोगमे आध्यात्मिक शब्दका अर्थ है नैतिक, धर्मका अथ है नोति, और जिस नीतिका पालन आत्मिक दृष्टिसे किया हो वही धर्म है।

(आत्मकथा—महात्मा गांधी पृष्ठ ९)

मैं यह नहीं कहता कि मेरे प्रयोग सब तरह सम्पूर्ण है।

मैं तो इतना ही कहता हूं कि जिस प्रकार एक विज्ञानशास्त्री अपने प्रयोग को अतिशय नियम और विचारपूर्वक सूक्ष्मताके साथ करते हुए भी उत्पन्न परिणामोंको अन्तिम नही बताता, अथवा जिसप्रकार उनकी सत्यताके विषयमें यदि सशंक नहीं तो तटस्थ रहता है, उसी प्रकार मेरे प्रयोगोंको समझना चाहिए। मैंने भरसक खूब आत्म-निरीक्षण किया है, अपने मनके एक एक भाग की छानबीन की है, उनका विश्लेषण किया है। फिर भी मैं यह दावा हरगिज नहीं करना चाहता कि उनके परिणाम सबके लिए अन्तिम है, वे सत्य ही है, अथवा वही सत्य है। हा एक दावा अवश्य करता हूं कि वे मेरी दृष्टिसे सच्चे हैं और इस समय तक तो मुझे अन्तिम जैसे मालूम होते है। यदि ये ऐसे न मालूम होते हों तो फिर इनके आधार पर मुझे कोई काम उठा लेनेका अधिकार नहीं।

(आत्मकथा—महात्मा गांधी, पृष्ठ ९)

जब हम लोग मानव-बन्धुत्वकी बात करते है तो वहीं रुक जाते है और हम लोगोंके मनमे आता है कि बाकीके सब जीव मनुष्यके अपने भोगोपभोगके लिए सर्जित है, परन्तु हिन्दू-धर्म मे भोगोपभोगमात्रका विचार त्याज्य माना गया है। जीव-मात्रके साथ इस एकताको साधनेके लिए, मनुष्य जितना त्याग करता है, उतना ही कम होता है, परन्तु इस आदर्शकी विशालता से मनुष्यकी हाजतों पर तो अंकुश होता ही है।

धर्म नो प्राण (व्यापक धर्मभावना पृष्ठ २१)

अहिंसाका उसूल जैसाकि वह आज दुनियाके सामने रक्खा गया है, इन्सानोंके सारे सम्बन्धोंसे हर तरहकी हिंसाको निकाल फेंकना चाहता है। यानी गुस्से, नफरत, लालच और बेरहमीसे किये जानेवाले शोषण—जिनका आखिरी नतीजा लडाई, झगडा, दुश्मनी और जंग होता है—पर काबू रखा जाय और उन्हें वश मे कर लिया जाय। अगर हम आदमी और आदमीके बीचके सम्बन्धोंसे हिंसा को निकालनेमे कामयाब हो जायं तो इन्सानोकी जमात अपनी तारीखमे तरक्कीका सबसे बडा कदम उठायेगी। एकबार इसे हासिल कर लिया गया कि जानवरो पर रहम करने और सारे जीवोको पूज्य समझनेका काम बडा आसान हो जायगा। चल सकनेके पहले ही दौडनेकी कोशिश न करें। अगर अहिंसाकी भावना एकबार लोगोंके दिलमे बस गई तो वह जरूर बढ़ेगी।

(हरिजन सेवक, रविवार ता० ३० मार्च १९४७)

मेरा कोई भाई गोहत्या पर उतारू हो जाय तब मुझे क्या करना चाहिए ? मैं उसे मार डालूं या उसके पैर पकडकर उससे ऐसा न करनेकी प्रार्थना करूं ? अगर आप कहें कि मुझे पिछला तरीका अख्तियार करना चाहिए, तो फिर अपने मुसलमान भाईके साथ भी मुझे इसी तरह पेश आना चाहिए।

(हिन्द स्वराज्य पृष्ठ ७९)

साधुजीवनसे ही आत्मशान्तिकी प्राप्ति संभव है। साधु-जीवनका अर्थ है—सत्य और अहिंसामय जीवन , संयमपूर्ण

जीवन। भोग कभी धर्म नहीं बन सकता, धर्मकी जड़ तो त्यागमें ही है।

(हि० न० जी० पृष्ठ ४१२ १५ ८ २९

(—गांधीवाणी पृष्ठ ७८)